सामाजिक विज्ञान

हमारे अतीत – III

कक्षा 8 के लिए

इतिहास की पाठ्यपुस्तक

not to be republished

0865

विद्यया ऽमृतमश्नुते

एन सी ई आर टी
NCERT

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

2019-2020

प्रथम संस्करण
अप्रैल 2008 वैसाख 1930
पुनर्मुद्रण
2009, जनवरी 2010, नवंबर 2010, 2013, जनवरी 2014, दिसंबर 2014, जनवरी 2016, दिसंबर 2016, एवं 2018
संशोधित संस्करण
जनवरी 2019 पौष 1940

PD 75T RPS

© राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, 2008, 2019

₹ 60.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटरमार्क 80 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन प्रभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा विद्या प्रकाशन मन्दिर (प्रा.) लि., विद्या इस्टेट, बागपत रोड, मेरठ- 250 002 (उ.प्र.) द्वारा मुद्रित।

ISBN 978-93-5292-112-6

सर्वाधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भाग को छापना तथा इलेक्ट्रॉनिकी, मशीनी, फोटोप्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग अथवा किसी अन्य विधि से पुन: प्रयोग पद्धति द्वारा उसका संग्रहण अथवा प्रसारण वर्जित है।
- इस पुस्तक की बिक्री इस शर्त के साथ की गई है कि प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना यह पुस्तक अपने मूल आवरण अथवा जिल्द के अलावा किसी अन्य प्रकार से व्यापार द्वारा उधारी पर, पुनर्विक्रय या किराए पर न दी जाएगी, न बेची जाएगी।
- इस प्रकाशन का सही मूल्य इस पृष्ठ पर मुद्रित है। रबड़ की मुहर अथवा चिपकाई गई पर्ची (स्टिकर) या किसी अन्य विधि द्वारा अंकित कोई भी संशोधित मूल्य गलत है तथा मान्य नहीं होगा।

एन सी ई आर टी के प्रकाशन प्रभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग
नयी दिल्ली 110 016 फोन : 011-26562708

108, 100 फीट रोड
हेली एक्सटेंशन, होस्डेकेरे
बनाशंकरी III स्टेज
बेंगलुरु 560 085 फोन : 080-26725740

नवजीवन ट्रस्ट भवन
डाकघर नवजीवन
अहमदाबाद 380 014 फोन : 079-27541446

सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस
निकट: धनकल बस स्टॉप पनिहटी
कोलकाता 700 114 फोन : 033-25530454

सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लैक्स
मालीगांव
गुवाहाटी 781021 फोन : 0361-2674869

प्रकाशन सहयोग

अध्यक्ष, प्रकाशन प्रभाग : *एम. सिराज अनवर*
मुख्य संपादक : *श्वेता उप्पल*
मुख्य व्यापार प्रबंधक : *गौतम गांगुली*
मुख्य उत्पादन अधिकारी : *अरुण चितकारा*
संपादक : *नरेश यादव*
उत्पादन सहायक : *ओम प्रकाश*

आवरण एवं सज्जा
आर्ट क्रिएशन्स
कार्टोग्राफी
कार्टोग्राफिक डिज़ाइन एजेंसी

© NCERT not to be republished

आमुख

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (2005) सुझाती है कि बच्चों के स्कूली जीवन को बाहर के जीवन से जोड़ा जाना चाहिए। यह सिद्धांत किताबी ज्ञान की उस विरासत के विपरीत है जिसके प्रभाववश हमारी व्यवस्था आज तक विद्यालय और घर के बीच अंतराल बनाए हुए है। नयी राष्ट्रीय पाठ्यचर्या पर आधारित पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें इस बुनियादी विचार पर अमल करने का प्रयास हैं। इस प्रयास में हर विषय को एक मज़बूत दीवार से घेर देने और जानकारी को रटा देने की प्रवृत्ति का विरोध शामिल है। आशा है कि ये कदम हमें राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) में वर्णित बाल-केंद्रित व्यवस्था की दिशा में काफ़ी दूर तक ले जाएँगे।

इस प्रयत्न की सफलता अब इस बात पर निर्भर है कि विद्यालयों के प्राचार्य और अध्यापक बच्चों को कल्पनाशील गतिविधियों और सवालों की मदद से सीखने और सीखने के दौरान अपने अनुभवों पर विचार करने का अवसर देते हैं। हमें यह मानना होगा कि यदि जगह, समय और आज़ादी दी जाए तो बच्चे बड़ों द्वारा सौंपी गयी सूचना-सामग्री से जुड़कर और जूझकर नए ज्ञान का सृजन करते हैं। शिक्षा के विविध साधनों एवं स्रोतों की अनदेखी किए जाने का प्रमुख कारण पाठ्यपुस्तक को परीक्षा का एकमात्र आधार बनाने की प्रवृत्ति है। सर्जना और पहल को विकसित करने के लिए ज़रूरी है कि हम बच्चों को सीखने की प्रक्रिया में पूरा भागीदार मानें और बनाएँ, उन्हें ज्ञान की निर्धारित खुराक का ग्राहक मानना छोड़ दें।

ये उद्देश्य स्कूल की दैनिक ज़िंदगी और कार्यशैली में काफ़ी फेरबदल की माँग करते हैं। दैनिक समय-सारणी में लचीलापन उतना ही ज़रूरी है जितनी वार्षिक कैलेंडर के अमल में चुस्ती, जिससे शिक्षण के लिए नियत दिनों की संख्या हकीकत बन सके। शिक्षण और मूल्यांकन की विधियाँ भी इस बात को तय करेंगी कि यह पाठ्यपुस्तक विद्यालय में बच्चों के जीवन को मानसिक दबाव तथा बोरियत की जगह खुशी का अनुभव बनाने में कितनी प्रभावी सिद्ध होती है। बोझ की समस्या से निपटने के लिए पाठ्यक्रम निर्माताओं ने विभिन्न चरणों में ज्ञान का पुनर्निर्धारण करते समय बच्चों के मनोविज्ञान एवं अध्यापन के लिए उपलब्ध समय का ध्यान रखने की पहले से अधिक सचेत कोशिश की है। इस कोशिश को और गहराने के यत्न में यह पाठ्यपुस्तक सोच-विचार और विस्मय, छोटे समूहों में विचार-विमर्श और ऐसी गतिविधियों को प्राथमिकता देती है जिन्हें करने के लिए व्यावहारिक अनुभवों की आवश्यकता होती है।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् इस पुस्तक की रचना के लिए बनायी गयी पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति के परिश्रम के लिए कृतज्ञता व्यक्त करती है। परिषद् सामाजिक विज्ञान पाठ्यपुस्तक सलाहकार समिति के अध्यक्ष प्रोफ़ेसर हरि वासुदेवन और इस पाठ्यपुस्तक समिति की मुख्य सलाहकार विभा पार्थसारथी की विशेष आभारी है। इस पाठ्यपुस्तक के विकास में कयी शिक्षकों ने योगदान किया, इस योगदान को संभव बनाने के लिए हम उनके प्राचार्यों के आभारी हैं। हम उन सभी संस्थाओं और संगठनों के प्रति कृतज्ञ हैं जिन्होंने अपने संसाधनों, सामग्री और सहयोगियों की मदद लेने में हमें उदारतापूर्वक सहयोग दिया। हम माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा प्रोफ़ेसर मृणाल मीरी एवं प्रोफ़ेसर जी.पी. देशपांडे की अध्यक्षता में गठित निगरानी समिति (मॉनिटरिंग कमेटी) के सदस्यों को अपना मूल्यवान समय और सहयोग देने के लिए धन्यवाद देते हैं।

© NCERT not to be republished

व्यवस्थागत सुधारों और अपने प्रकाशनों में निरंतर निखार लाने के प्रति समर्पित राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् टिप्पणियों एवं सुझावों का स्वागत करेगी जिनसे भावी संशोधनों में मदद ली जा सके।

निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान
और प्रशिक्षण परिषद्

नयी दिल्ली
30 नवंबर 2007

© NCERT not to be republished

पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति

अध्यक्ष, सामाजिक विज्ञान पाठ्यपुस्तक सलाहकार समिति

हरि वासुदेवन, *प्रोफ़ेसर*, इतिहास विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता

मुख्य सलाहकार

नीलाद्रि भट्टाचार्य, *प्रोफ़ेसर*, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

सदस्य

अर्चना प्रसाद, *एसोसिएट प्रोफ़ेसर*, जवाहरलाल नेहरू अध्ययन केंद्र, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नयी दिल्ली

अंजलि खुल्लर, *पीजीटी* (इतिहास) केम्ब्रिज स्कूल, नयी दिल्ली

अनिल सेठी, *प्रोफ़ेसर*, सामाजिक विज्ञान शिक्षा विभाग, एनसीईआरटी, नयी दिल्ली

जानकी नायर, *प्रोफ़ेसर*, सामाजिक विज्ञान अध्ययन केंद्र, कोलकाता

तनिका सरकार, *प्रोफ़ेसर*, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

ताप्ती गुहा-ठाकुरता, *प्रोफ़ेसर*, सामाजिक विज्ञान अध्ययन केंद्र, कोलकाता

प्रभु मॉहापात्रा, *एसोसिएट प्रोफ़ेसर*, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

रामचन्द्र गुहा, *स्वतंत्र लेखक*, मानवशास्त्री एवं इतिहासकार, बेंगलुरु

रश्मि पालीवाल, एकलव्य, होशंगाबाद, मध्य प्रदेश

संजय शर्मा, *एसोसिएट प्रोफ़ेसर*, ज़ाकिर हुसैन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

सतविन्दर कौर, *पीजीटी* (इतिहास), केंद्रीय विद्यालय संख्या 1, जालंधर, पंजाब

स्मिता सहाय भट्टाचार्य, *पीजीटी* (इतिहास), ब्ल्यूबेल्स स्कूल, नयी दिल्ली

एम. सिराज अनवर, *प्रोफ़ेसर*, पीपीएमईडी, एनसीईआरटी, नयी दिल्ली

हिंदी अनुवाद

योगेंद्र दत्त, सराय-सी.एस.डी.एस., दिल्ली

रीतू सिंह, *असिस्टेंट प्रोफ़ेसर* (इतिहास), सामाजिक विज्ञान शिक्षा विभाग, एनसीईआरटी, नयी दिल्ली

सिराज अनवर, *प्रोफ़ेसर*, पीपीएमईडी, एनसीईआरटी, नयी दिल्ली

सदस्य-समन्वयक

रीतू सिंह, *असिस्टेंट प्रोफ़ेसर* (इतिहास), सामाजिक विज्ञान शिक्षा विभाग, एनसीईआरटी, नयी दिल्ली

© NCERT not to be republished

आभार

यह पुस्तक बहुत सारे इतिहासकारों, शिक्षाविदों और शिक्षकों की सामूहिक कोशिशों का फल है। इन अध्यायों के लेखन और संशोधन में कई माह लगे हैं। ये अध्याय कार्यशालाओं में हुई चर्चाओं और ई-मेल पर हुए विचारों के आदान-प्रदान से उपजे हैं। इस प्रक्रिया में प्रत्येक सदस्य ने प्रकारांतर से अपनी क्षमता के अनुरूप योगदान दिया है।

बहुत सारे व्यक्तियों और संस्थानों ने इस किताब को तैयार करने में मदद दी। प्रोफ़ेसर मुज़फ़्फ़र आलम और डॉ. कुमकुम रॉय ने इसके मसविदे पढ़े और बदलाव के लिए कई अहम सुझाव दिए। किताब में दिए गए चित्रों के लिए हमने कई संस्थाओं के संग्रहों का इस्तेमाल किया। दिल्ली शहर और 1857 की घटनाओं के बहुत सारे चित्र अल्काज़ी फ़ाउंडेशन फ़ॉर दि आर्ट्स से लिए गए हैं। ब्रिटिश राज के बारे में लिखी गयी उन्नीसवीं सदी की बहुत सारी सचित्र पुस्तकें इंडिया इंटरनैशनल सेंटर के बहुमूल्य इंडिया कलेक्शन का हिस्सा थीं। हम सुनील जाना साहब के प्रति कृतज्ञ हैं जिन्होंने नब्बे साल की उम्र पार करने के बाद भी अपने चित्रों को छाँटने में मदद और उन्हें पुनः प्रकाशित करने की अनुमति दी। चालीस के दशक की शुरुआत से ही वह आदिवासी क्षेत्रों की पड़ताल कर रहे हैं और उन्होंने असंख्य समुदायों के दैनिक जीवन को अपने कैमरे में दर्ज किया है। इनमें से कुछ चित्र अब प्रकाशित हो चुके हैं (द ट्राइबल्स ऑफ़ इंडिया, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2003) तथा बहुत सारे चित्र इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र में सुरक्षित हैं।

परिषद् पाठ्यपुस्तक के निर्माण में उल्लेखनीय सहयोग देने हेतु अनिल शर्मा, *इन्द्र कुमार, डी.टी.पी. ऑपरेटर;* सतीश झा, *कॉपी एडिटर* तथा दिनेश कुमार, *कंप्यूटर स्टेशन इंचार्ज* का भी हार्दिक आभार व्यक्त करती है। इसी संदर्भ में प्रकाशन विभाग, एन.सी.ई.आर.टी. का सहयोग भी प्रशंसनीय है।

यहाँ हमने सभी के आभारज्ञापन का प्रयास किया है लेकिन अगर किसी व्यक्ति या संस्था का नाम छूट गया है तो इस भूल के लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं।

© NCERT not to be republished

श्रेय

व्यक्ति

सुनील जाना (अध्याय 4, चित्र 4, 8, 9, 10)

संस्थाएँ

दि अल्काज़ी फाउंडेशन फ़ॉर दि आर्ट्स (अध्याय 5, चित्र 11)

विक्टोरिया मेमोरियल म्यूज़ियम (अध्याय 5, चित्र 1)

पुस्तकें

एंड्रियास वोल्वासेन, *इम्पीरियल डेल्ही : द ब्रिटिश कैपिटल ऑफ़ दि इंडियन एम्पायर* (अध्याय 1, चित्र 4)

सी. ए. बेली, सं., *एन इलस्ट्रेटेड हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न इंडिया, 1600–1947* (अध्याय 1, चित्र 1; अध्याय 2, चित्र 5, 12; अध्याय 3, चित्र 1)

कोल्सवर्दी ग्रांट, *रूरल लाइफ़ इन बंगाल* (अध्याय 3, चित्र 8, 9, 11, 12, 13)

कॉलिन कैम्पबेल, *नैरेटिव ऑफ़ दि इंडियन रिवोल्ट फ़्रॉम इट्स आउटब्रेक टू द कैप्चर ऑफ़ लखनऊ* (अध्याय 5, चित्र 3, 5, 6, 7, 8)

गौतम भद्र, *फ़्रॉम एन इम्पीरियल प्रॉडक्ट टू ए नैशनल ड्रिंक : द कल्चर ऑफ़ टी कंज़म्प्शन इन मॉडर्न इंडिया* (अध्याय 1, चित्र 2)

मैथ्यु एच. एडने, *मैपिंग एन एम्पायर : द ज्योग्राफ़िकल कंस्ट्रक्शन ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया, 1765–1843* (अध्याय 1, चित्र 1)

आर. एच. फ़िलीमोर, *हिस्टॉरिकल रिकॉर्ड्स ऑफ़ द सर्वे ऑफ़ इंडिया* (अध्याय 1, चित्र 6)

रॉबर्ट मोंटगॉमरी मार्टिन, *दि इंडियन एम्पायर* (अध्याय 1, चित्र 7; अध्याय 2, चित्र 1; अध्याय 5, चित्र 7, 9)

रूद्रांग्शु मुखर्जी एवं प्रमोद कपूर, *डेटलाइन – 1857 : रिवोल्ट अगेंस्ट द राज* (अध्याय 5, चित्र 2, 7)

सूज़न एस. बीन, *यैंकी इंडिया : अमेरिकन कमर्शियल एंड कल्चरल एनकाउंटर्स विद इंडिया इन दि ऐज ऑफ़ सेल, 1784–1860* (अध्याय 2, चित्र 8; अध्याय 3, चित्र 2)

सूज़न स्ट्राँग, सं., *दि आर्ट्स ऑफ़ द सिख किंग्डम* (अध्याय 2, चित्र 11)

तिज़ीयाना एवं जियानी बाल्दीत्सोन, *हिडेन ट्राइब्स ऑफ़ इंडिया* (अध्याय 4, चित्र 1, 2, 5, 6, 7)

© NCERT not to be republished

श्रेय

संस्थाएँ

दि ओसियन आर्काइव एण्ड लाइब्रेरी कलेक्शन, मुंबई (अध्याय 6 चित्र 1, 8)

नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम एण्ड लाइब्रेरी, नई दिल्ली (अध्याय 8 चित्र 4, 5, 7, 13; अध्याय 10 चित्र 1, 2, 4, 6, 7, 9)

फोटो डिवीज़न, भारत सरकार, नई दिल्ली (अध्याय 9 चित्र 20; अध्याय 12 चित्र 3,10)

पत्रिकाएँ

दि इलस्ट्रेटिड लंदन न्यूज़ (अध्याय 9 चित्र 15)

पुस्तकें

अमन नाथ एवं जय विठलानी, *होरिजंस : दि टाटा- इंडिया सेंचुरी, 1904–2004* (अध्याय 7 चित्र 10, 14, 15)

सी.ए.बेयली, सं., *एन इलस्ट्रेटिड हिस्ट्री ऑफ माडर्न इंडिया, 1600–1947* (अध्याय 6 चित्र 11; अध्याय 7 चित्र 2, 4, 6; अध्याय 10 चित्र 6, 7, 17, 22; अध्याय 9 चित्र 3, 4, 5, 10)

जान ब्रेमेन, *लेबर बॉण्डेज इन वेस्टर्न इंडिया* (अध्याय 8 चित्र 11)

ज्योतिन्द्र जैन एवं आरती अग्रवाल, *नेशनल हेंडीक्राफ्ट्स एण्ड हेण्डलूम म्यूजियम,* नई दिल्ली, मेपिन (अध्याय 6 चित्र 4, 5)

मालविका कारलेकर, *री-विज़निंग दि पास्ट* (अध्याय 8 चित्र 6, 8; अध्याय 8 चित्र 11)

मारिना कार्टर, *सरवेंट्स, सरदार्स एण्ड सेटलर्स* (अध्याय 8 चित्र 9)

पीटर रूहे, *गांधी* (अध्याय 10 चित्र 1, 6, 12, 13, 14, 16, 17, 18, 19, 21)

सूज़न एस. बीन, *यैंकी इंडिया : अमेरिकन कॉमर्शियल एंड कल्चरल एनकाउंटर्स विद इंडिया इन दि एज ऑफ सेल, 1784–1860* (अध्याय 8 चित्र 3, 7)

यू. बॉल, *जंगल लाइफ इन इंडिया* (अध्याय 6 चित्र 12)

वेरियर एल्विन, द *एगारिया* (अध्याय 6 चित्र 13)

टैक्सटाइल्स फॉर टेम्पिल ट्रेड एंड डॉवरी, कलेक्शन संस्कृति म्यूज़ियम ऑफ एवरीडे आर्ट (अध्याय 6 चित्र 2, 6)

© NCERT not to be republished

विषय सूची

आमुख *iii*

1. कैसे, कब और कहाँ 1
2. व्यापार से साम्राज्य तक कंपनी की सत्ता स्थापित होती है 9
3. ग्रामीण क्षेत्र पर शासन चलाना 26
4. आदिवासी, *दीकु* और एक स्वर्ण युग की कल्पना 39
5. जब जनता बग़ावत करती है 1857 और उसके बाद 51
6. बुनकर, लोहा बनाने वाले और फैक्ट्री मालिक 65
7. "देशी जनता" को सभ्य बनाना राष्ट्र को शिक्षित करना 81
8. महिलाएँ,जाति एवं एवं सुधार 94
9. राष्ट्रीय आंदोलन का संघटन: 1870 के दशक से 1947 तक 109
10. स्वतंत्रता के बाद 128

© NCERT not to be republished

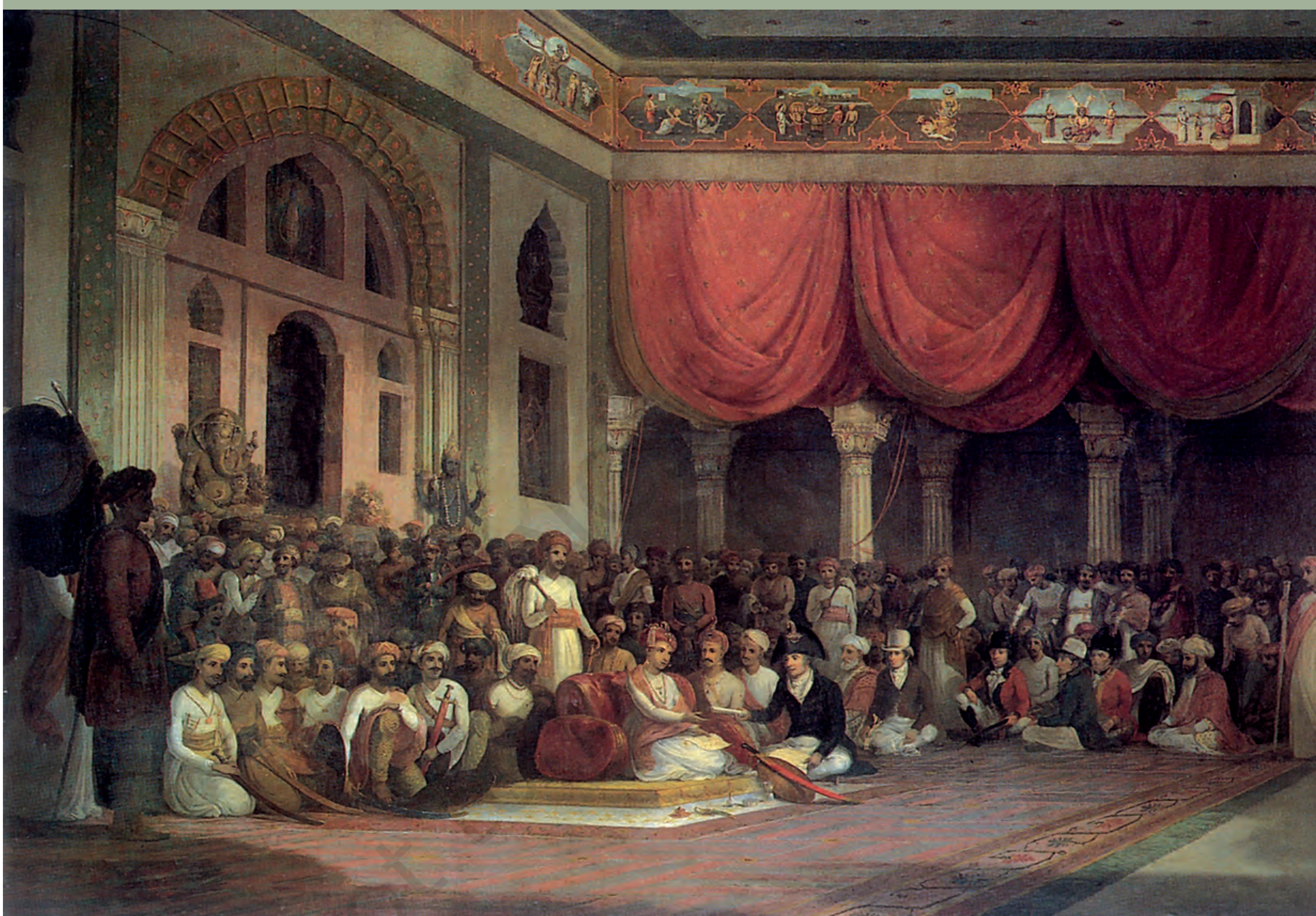

पूना के दरबार में संधि पर हस्ताक्षर करते हुए ब्रिटिश रेज़िडेन्ट, 1790

1 कैसे, कब और कहाँ

0865CH01

तारीख़ें कितनी महत्वपूर्ण होती हैं?

एक वक्त था जब इतिहासकार तारीख़ों के जादू में ही खोए रहते थे। कब किस राजा की ताजपोशी हुई, कब कौन सा युद्ध हुआ – इन्हीं तारीख़ों पर गर्मागर्म बहसें चलती थीं। आम समझ के हिसाब से इतिहास को तारीख़ों का पर्याय माना जाता था। आपने भी लोगों को यह कहते हुए सुना होगा : "इतिहास तो बहुत उबाऊ है भई। बस तारीख़ें रटते चले जाओ!" क्या इतिहास के बारे में यह धारणा सही है?

इसमें कोई शक नहीं कि इतिहास अलग-अलग समय पर आने वाले बदलावों के बारे में ही होता है। इसका संबंध इस बात से है कि अतीत में चीज़ें किस तरह की थीं और उनमें क्या बदलाव आए हैं। जैसे ही हम अतीत और वर्तमान की तुलना करते हैं, हम समय का ज़िक्र करने लगते हैं। हम "पहले" और "बाद में" की बात करने लगते हैं।

रोज़मर्रा की ज़िंदगी में हम अपने आसपास की चीज़ों पर हमेशा ऐतिहासिक सवाल नहीं उठाते। हम चीज़ों को स्वाभाविक मानकर चलते हैं। मानो जो कुछ हमें दिख रहा है वह हमेशा से ऐसा ही रहा हो। लेकिन हम सबके सामने कभी-कभी अचंभे के क्षण आते हैं। कई बार हम उत्सुक हो जाते हैं और ऐसे सवाल पूछते हैं जो वाकई ऐतिहासिक होते हैं। किसी व्यक्ति को सड़क किनारे चाय के घूँट भरते देखकर आप इस बात पर हैरान हो सकते हैं कि चाय या कॉफी पीने का चलन शुरू कब से हुआ होगा? रेलगाड़ी की खिड़की से बाहर झाँकते हुए आपके ज़हन में यह सवाल उठ सकता है कि रेलवे का निर्माण कब हुआ? रेलगाड़ी के आने से पहले लोग दूर-दूर की यात्रा किस तरह कर पाते थे? सुबह-सुबह अख़बार पढ़ते हुए आप यह जानने के लिए उत्सुक हो सकते हैं कि जिस ज़माने में अख़बार नहीं छपते थे, उस समय लोगों को चीज़ों की जानकारी कैसे मिलती थी।

चित्र 1 – ब्राह्मण ब्रिटेनिया को शास्त्र भेंट कर रहे हैं, जेम्स रेनेल द्वारा तैयार किए गए पहले नक्शे का आवरण चित्र, 1782.
रॉबर्ट क्लाइव ने रेनेल को हिंदुस्तान के नक़्शे तैयार करने का काम सौंपा था। भारत पर अंग्रेज़ों की विजय के समर्थक रेनेल को वर्चस्व स्थापित करने की प्रक्रिया में नक्शे तैयार करना बहुत महत्वपूर्ण लगता था। इस तसवीर में दिखाया गया है कि भारत के लोग स्वेच्छापूर्वक अपने प्राचीन पवित्र ग्रंथ ब्रिटिश सत्ता की प्रतीक ब्रिटेनिया को सौंप रहे हैं मानो वे उसे भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए आने का आग्रह कर रहे हों।

गतिविधि

चित्र 1 को ध्यान से देखें। यह चित्र किस प्रकार उपनिवेशवाद का बोध कराता है।

© NCERT not to be republished

ये सारे ऐतिहासिक सवाल हमें समय के बारे में सोचने के लिए प्रेरित कर देते हैं। समय को हमेशा साल या महीनों के पैमाने पर ही नहीं देखा जा सकता। कई बार ऐसी प्रक्रियाओं के लिए कोई तारीख़ तय करना वाक़ई ग़लत होता है जो एक लंबे समय तक चलती रहती हैं। भारत में लोगों ने अचानक एक दिन सुबह-सबेरे चाय पीना शुरू नहीं कर दिया था। इसका स्वाद धीरे-धीरे ही उनकी ज़बान पर चढ़ा था। इस तरह की प्रक्रियाओं के लिए कोई स्पष्ट तिथि नहीं हो सकती। इसी तरह हम ब्रिटिश शासन की स्थापना के लिए भी कोई एक तिथि नहीं बता सकते। राष्ट्रीय आंदोलन किस दिन शुरू हुआ या अर्थव्यवस्था या समाज में किस दिन बदलाव आए, यह बताना भी संभव नहीं है। ये सारी चीज़ें एक लंबे समय में घटती हैं। ऐसे में हम सिर्फ़ एक अवधि की ही बात कर सकते हैं, एक लगभग सही अवधि के बारे में बता सकते हैं जब वे खास बदलाव दिखाई देने शुरू हुए होंगे।

तो फिर लोग इतिहास को तारीख़ों से जोड़ कर क्यों देखते हैं? इस जुड़ाव की एक वजह है। एक समय था जब युद्ध और बड़ी-बड़ी घटनाओं के ब्योरों को ही इतिहास माना जाता था। यह इतिहास राजा-महाराजाओं और उनकी नीतियों के बारे में होता था। इतिहासकार यह लिखते थे कि कौन से साल राजा को ताज पहनाया गया, किस साल उसका विवाह हुआ, किस साल उसके घर में बच्चा पैदा हुआ, कौन से साल उसने कौन सी लड़ाई लड़ी, वह कब मरा और उसके बाद कब कौन-सा शासक गद्दी पर बैठा। इस तरह की घटनाओं के लिए निश्चित तिथि बताई जा सकती है और इस तरह के इतिहासों में तिथियों का महत्व बना रहता है।

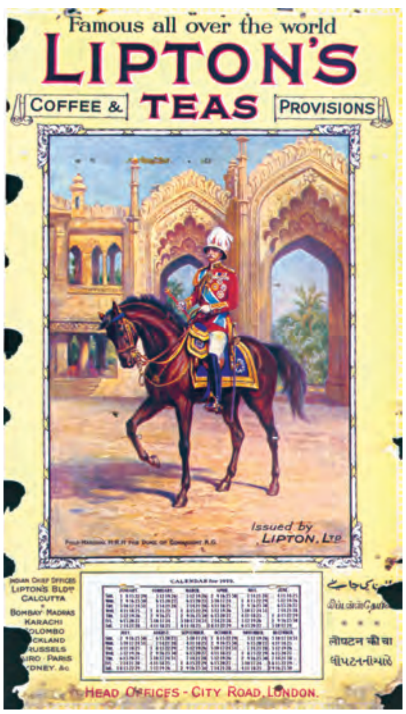

चित्र 2 – विज्ञापनों से भी पसंद-नापसंद तय होती है।

पुराने विज्ञापनों से हमें यह समझने में मदद मिलती है कि नए उत्पादों के लिए बाज़ार किस तरह तैयार हुए और किस तरह नयी रुचियाँ चलन में आयीं। 1922 में लिप्टन चाय के लिए तैयार किया गया यह विज्ञापन इस बात की ओर संकेत करता है कि दुनिया भर के शाही लोग यही चाय पीते हैं। इस तसवीर में पीछे की तरफ़ एक भारतीय महल दिखाई दे रहा है जबकि अगले हिस्से में ब्रिटेन की रानी विक्टोरिया का तीसरा बेटा राजकुमार आर्थर घोड़े पर बैठा हुआ है। राजकुमार आर्थर को ड्यूक ऑफ़ कनॉट की पदवी दी गई थी।

जैसा कि पिछले दो साल की इतिहास की किताबों में आपने देखा है, अब इतिहासकार बहुत सारे दूसरे मुद्दों और दूसरे सवालों के बारे में भी लिखने लगे हैं। वे इस बात पर ध्यान देते हैं कि लोग किस तरह अपनी रोज़ी-रोटी चलाते थे। वे क्या पैदा करते थे और क्या खाते थे। शहर कैसे बने और बाज़ार किस तरह फैले। किस तरह रियासतें बनीं, नए विचार पनपे और संस्कृति व समाज किस तरह बदले।

कौन सी तारीख़ें?

कुछ तारीख़ों को महत्वपूर्ण मानने का पैमाना क्या होता है? हम जो तारीख़ें चुनते हैं, जिन तारीख़ों के इर्द-गिर्द हम अतीत की कहानी बुनते हैं, वे अपने आप में महत्वपूर्ण नहीं होतीं। वे इसलिए महत्वपूर्ण हो जाती हैं क्योंकि हम कुछ खास घटनाओं को महत्वपूर्ण मानकर चलने लगते हैं। अगर अध्ययन का विषय बदल जाता है, अगर हम नए मुद्दों पर ध्यान देने लगते हैं तो महत्वपूर्ण तारीख़ें भी बदल जाती हैं।

एक उदाहरण पर विचार कीजिए। भारत में ब्रिटिश इतिहासकारों ने जो इतिहास लिखे उनमें हरेक गवर्नर-जनरल का शासनकाल महत्वपूर्ण है। ये इतिहास प्रथम गवर्नर-जनरल वॉरेन हेस्टिंग्स के शासन से शुरू होते थे और आखिरी वायसरॉय, लॉर्ड माउंटबैटन के साथ खत्म होते थे। अलग-अलग अध्यायों में हम दूसरे गवर्नर-जनरलों – हेस्टिंग्स, वेलेज़्ली, बेंटिंक, डलहौज़ी,

© NCERT not to be republished

कैनिंग, लॉरेंस, लिटन, रिपन, कर्ज़न, हार्डिंग, इरविन – के बारे में भी पढ़ते हैं। इस इतिहास में गवर्नर-जनरलों और वायसरॉयों का कभी न ख़त्म होने वाला सिलसिला ही छाया रहता था। इतिहास की इन किताबों में सारी तारीख़ों का महत्व इन अधिकारियों, उनकी गतिविधियों, नीतियों, उपलब्धियों के आधार पर ही तय होता था। यह ऐसे था मानो इन लोगों के जीवन के बाहर कोई ऐसी चीज़ नहीं थी जिसे जानना महत्वपूर्ण हो। इन लोगों के जीवन का क्रम ब्रिटिश भारत के इतिहास में अलग-अलग अध्यायों का विषय बन जाता था।

क्या हम इसी दौर के इतिहास को अलग ढंग से नहीं लिख सकते? गवर्नर-जनरलों के इस इतिहास के चौखटे में हम भारतीय समाज के विभिन्न समूहों और वर्गों की गतिविधियों पर किस तरह ध्यान दे सकते हैं?

जब हम इतिहास या कोई कहानी लिखते हैं तो उसे टुकड़ों या अध्यायों में बाँट देते हैं। हम ऐसा क्यों करते हैं? ऐसा इसलिए किया जाता है ताकि हर अध्याय में कुछ सामंजस्य रहे। इसका मक़सद कहानी को इस तरह सामने लाना होता है कि उसे आसानी से समझा जा सके और याद रखा जा सके। इस प्रक्रिया में हम सिर्फ़ उन घटनाओं पर ज़ोर देते हैं जो उस कहानी को पेश करने में मददगार होती हैं। जो इतिहास गवर्नर-जनरलों के जीवन के इर्द-गिर्द चलता है उसमें भारतीयों की गतिविधियाँ कोई मायने नहीं रखतीं। उनके लिए वहाँ कोई जगह नहीं होती। तो फिर क्या किया जाए? ज़ाहिर है हमें अपने इतिहास का एक अलग ख़ाका बनाना पड़ेगा। इसका मतलब यह है कि अब तक जिन तिथियों को महत्व दिया जा रहा था वे महत्वपूर्ण नहीं रहेंगी। हमारे लिए नयी तिथियाँ महत्वपूर्ण हो जाएँगी।

चित्र 3 *– वॉरेन हेस्टिंग्स 1773 में भारत के पहले गवर्नर-जनरल बने।*

इतिहास की किताबों में गवर्नर-जनरलों के कारनामों, जीवनियों में उनकी गौरवगाथाओं और तसवीरों में उनके भव्य व्यक्तित्व को उभारा जाता था।

हम अवधियाँ कैसे तय करते हैं?

1817 में स्कॉटलैंड के अर्थशास्त्री और राजनीतिक दार्शनिक जेम्स मिल ने तीन विशाल खंडों में *ए हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया* (ब्रिटिश भारत का इतिहास) नामक एक किताब लिखी। इस किताब में उन्होंने भारत के इतिहास को हिंदू, मुसलिम और ब्रिटिश, इन तीन काल खंडों में बाँटा था। काल खंडों के इस निर्धारण को ज़्यादातर लोगों ने मान भी लिया। क्या आपको भारतीय इतिहास को समझने के इस तरीके में कोई समस्या दिखाई देती है?

इतिहास को हम अलग-अलग काल खंडों में बाँटने की कोशिश क्यों करते हैं? इसकी भी एक वजह है। हम एक दौर की ख़ासियतों, उसके केंद्रीय तत्वों को पकड़ने की कोशिश करते हैं। इसीलिए ऐसे शब्द महत्वपूर्ण हो जाते हैं जिनके सहारे हम समय को बाँटते हैं। ये शब्द अतीत के बारे में हमारे विचारों को दर्शाते हैं। वे हमें बताते हैं कि एक अवधि से दूसरी अवधि के बीच आए बदलावों का क्या महत्व होता है।

मिल को लगता था कि सारे एशियाई समाज सभ्यता के मामले में यूरोप से पीछे हैं। इतिहास की उनकी समझदारी ये थी कि भारत में अंग्रेज़ों के आने से पहले यहाँ हिंदू और मुसलमान तानाशाहों का ही राज चलता था। यहाँ चारों ओर केवल धार्मिक बैर, जातिगत बंधनों और अंधविश्वासों का ही बोलबाला

गतिविधि

अपनी माँ या परिवार के किसी अन्य सदस्य से बात करके उनके जीवन के बारे में पता लगाएँ। अब उनके जीवन को अलग-अलग काल खंडों में बाँटें और प्रत्येक अवधि की महत्वपूर्ण घटनाओं की सूची बनाएँ। स्पष्ट करें कि आपने काल खंडों को किस तरह तय किया है।

2019-2020

था। मिल की राय में ब्रिटिश शासन भारत को सभ्यता की राह पर ले जा सकता था। इस काम के लिए ज़रूरी था कि भारत में यूरोपीय शिष्टाचार, कला, संस्थानों और कानूनों को लागू किया जाए। मिल ने तो यहाँ तक सुझाव दिया था कि अंग्रेज़ों को भारत के सारे भूभाग पर कब्ज़ा कर लेना चाहिए ताकि भारतीय जनता को ज्ञान और सुखी जीवन प्रदान किया जा सके। उनका मानना था कि अंग्रेज़ों की मदद के बिना हिंदुस्तान प्रगति नहीं कर सकता।

इतिहास की इस धारणा में अंग्रेज़ी शासन प्रगति और सभ्यता का प्रतीक था। अंग्रेज़ी शासन से पहले सारा अंधकार का दौर था। क्या इस तरह की धारणा को स्वीकार किया जा सकता है?

क्या इतिहास के किसी दौर को "हिंदू" या "मुसलमान" दौर कहा जा सकता है? क्या इन सारे दौरों में कई तरह के धर्म एक साथ नहीं चलते थे? किसी युग को केवल उस समय के शासकों के धर्म के हिसाब से तय करने की ज़रूरत क्या है? अगर हम ऐसा करते हैं तो इसका मतलब यह कहना चाहते हैं कि औरों के जीवन और तौर-तरीकों का कोई महत्व नहीं होता। हमें याद रखना चाहिए कि प्राचीन भारत में सारे शासकों का भी एक धर्म नहीं होता था।

अंग्रेज़ों द्वारा सुझाए गए वर्गीकरण से अलग हटकर इतिहासकार भारतीय इतिहास को आमतौर पर 'प्राचीन', 'मध्यकालीन', तथा 'आधुनिक' काल में बाँटकर देखते हैं। इस विभाजन की भी अपनी समस्याएँ हैं। इतिहास को इन खंडों में बाँटने की यह समझ भी पश्चिम से आई है। पश्चिम में आधुनिक काल को विज्ञान, तर्क, लोकतंत्र, मुक्ति और समानता जैसी आधुनिकता की ताकतों के विकास का युग माना जाता है। उनके लिए मध्यकालीन समाज वे समाज थे जहाँ आधुनिक समाज की ये विशेषताएँ नहीं थीं। क्या हम अपने अध्ययन के लिए आधुनिक काल की इस अवधारणा को बिना सोचे-विचारे ऐसे ही अपना सकते हैं? जैसा कि आप इस किताब में देखेंगे, अंग्रेज़ों के शासन में लोगों के पास समानता, स्वतंत्रता या मुक्ति नहीं थी। न ही यह आर्थिक विकास और प्रगति का दौर था।

बहुत सारे इतिहासकार इस युग को 'औपनिवेशिक' युग कहते हैं।

औपनिवेशिक क्या होता है?

इस किताब में आप पढ़ेंगे कि किस तरह अंग्रेज़ों ने हमारे देश को जीता और स्थानीय नवाबों और राजाओं को दबाकर अपना शासन स्थापित किया। आप देखेंगे कि किस तरह उन्होंने अर्थव्यवस्था व समाज पर नियंत्रण स्थापित किया, अपने सारे खर्चों को निपटाने के लिए राजस्व वसूल किया, अपनी ज़रूरत की चीज़ों को सस्ती कीमत पर ख़रीदा, निर्यात के लिए महत्वपूर्ण फ़सलों की खेती करायी और इन सारी कोशिशों के कारण क्या बदलाव आए। आप ये भी जानेंगे कि ब्रिटिश शासन के कारण यहाँ की मूल्य-मान्यताओं और पसंद-नापसंद, रीति-रिवाज व तौर-तरीकों में क्या बदलाव आए। जब एक देश पर दूसरे देश के दबदबे से इस तरह के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक बदलाव आते हैं तो इस प्रक्रिया को औपनिवेशीकरण कहा जाता है।

लेकिन, जल्दी ही आप ये समझ जाएँगे कि सारे वर्ग और समूह इन बदलावों

© NCERT not to be republished

को एक ही ढंग से अनुभव नहीं कर रहे थे। इसीलिए, इस किताब को *हमारे अतीत* (यानी कई अतीतों पर केंद्रित) नाम दिया गया है।

हम किस तरह जानते हैं?

भारतीय इतिहास के पिछले 250 साल का इतिहास लिखने के लिए इतिहासकार कौन से स्रोतों का इस्तेमाल करते हैं?

प्रशासन अभिलेख तैयार करता है

अंग्रेज़ी शासन द्वारा तैयार किए गए सरकारी रिकॉर्ड इतिहासकारों का एक महत्वपूर्ण साधन होते हैं। अंग्रेज़ों की मान्यता थी कि चीज़ों को लिखना बहुत महत्वपूर्ण होता है। उनके लिए हर निर्देश, हर योजना, नीतिगत फैसले, सहमति, जाँच को साफ़-साफ़ लिखना ज़रूरी था। ऐसा करने के बाद चीज़ों का अच्छी तरह अध्ययन किया जा सकता था और उन पर वाद-विवाद किया जा सकता है। इस समझदारी के चलते ज्ञापन, टिप्पणी और प्रतिवेदन पर आधारित शासन की संस्कृति पैदा हुई।

अंग्रेज़ों को यह भी लगता था कि तमाम अहम दस्तावेज़ों और पत्रों को सँभालकर रखना ज़रूरी है। लिहाज़ा, उन्होंने सभी शासकीय संस्थानों में अभिलेख कक्ष भी बनवा दिए। तहसील के दफ़्तर, कलेक्टरेट, कमिश्नर के दफ़्तर, प्रांतीय सचिवालय, कचहरी – सबके अपने रिकॉर्ड रूम होते थे। महत्वपूर्ण दस्तावेज़ों को बचाकर रखने के लिए अभिलेखागार (आर्काइव) और संग्रहालय जैसे संस्थान भी बनाए गए।

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में प्रशासन की एक शाखा से दूसरी शाखा के पास भेजे गए पत्रों और ज्ञापनों को आप आज भी अभिलेखागारों में देख सकते हैं। वहाँ आप ज़िला अधिकारियों द्वारा तैयार किए गए नोट्स और रिपोर्ट पढ़ सकते हैं या ऊपर बैठे अफ़सरों द्वारा प्रांतीय अधिकारियों को भेजे गए निर्देश और सुझाव देख सकते हैं। उन्नीसवीं सदी के शुरुआती सालों में इन दस्तावेज़ों की सावधानीपूर्वक नक़लें बनाई जाती थीं।

उन्हें खुशनवीसी के माहिर लिखते थे। खुशनवीसी या सुलेखनवीस ऐसे लोग होते हैं जो बहुत सुंदर ढंग से चीज़ें लिखते हैं। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक छपाई

चित्र 4 *– भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार 1920 के दशक में बनाया गया।*
जब नयी दिल्ली का निर्माण हुआ तो राष्ट्रीय संग्रहालय और राष्ट्रीय अभिलेखागार, दोनों ही वायसरॉय के निवास के नज़दीक बनाए गए थे। इससे पता चलता है कि अंग्रेज़ों की सोच में इन संस्थानों का कितना भारी महत्व था।

स्रोत 1

गृह विभाग को भेजी गई रिपोर्टें

सन् 1946 में भारत की औपनिवेशिक सरकार शाही भारतीय नौसेना के जहाज़ों में सिपाहियों की बगावत को कुचलने का प्रयास कर रही थी। उस समय विभिन्न बंदरगाहों से गृह विभाग को जो रिपोर्टें मिल रही थीं उनके कुछ नमूने इस प्रकार हैं :

बम्बई : इस बात का इंतज़ाम कर लिया गया है कि सेना जहाज़ों और दफ़्तरों पर कब्ज़ा कर ले। शाही नौसैनिक जहाज़ अभी भी बंदरगाह से बाहर ही हैं।

कराची : 301 विद्रोहियों को गिरफ़्तार कर लिया गया है। कुछ अन्य संदेहास्पद विद्रोही भी गिरफ़्तार किए गए हैं... सारे दफ़्तर... सैनिक निगरानी में हैं।

विशाखापट्नम : स्थिति पूरी तरह नियंत्रण में है और कहीं हिंसा नहीं हुई है। जहाज़ों और प्रतिष्ठानों पर सैनिक गार्ड तैनात कर दिए गए हैं। किसी परेशानी की उम्मीद नहीं है सिवाय इसके कि संभव है कुछ सिपाही काम पर न आएँ।

डायरेक्टर ऑफ़ इंटेलिजेंस, हेडक्वार्टर, इंडिया कमान्ड, सिचुएशन रिपोर्ट सं. 7, फाइल सं. 5/21/46. गृह (राजनीतिक), भारत सरकार।

© NCERT not to be republished

2019-2020

चित्र 5 – शरीफ़े का पौधा, 1770 का दशक।

अंग्रेज़ों द्वारा बनाए गए वानस्पतिक उद्यान और प्राकृतिक इतिहास के संग्रहालयों में विभिन्न पौधों के नमूने और उनसे संबंधित जानकारियाँ इकट्ठा की जाती थीं। इन नमूनों के चित्र स्थानीय कलाकारों से बनवाए जाते थे। अब इतिहासकार इस बात पर ध्यान दे रहे हैं कि इस तरह की जानकारी किस तरह इकट्ठा की जाती थी और इससे उपनिवेशवाद के बारे में क्या पता चलता है।

तकनीक भी फैलने लगी थी। इस तकनीक के सहारे अब प्रत्येक सरकारी विभाग की कार्रवाइयों के दस्तावेज़ों की कई-कई प्रतियाँ बनाई जाने लगीं।

सर्वेक्षण का बढ़ता महत्व

औपनिवेशिक शासन के दौरान सर्वेक्षण का चलन भी महत्वपूर्ण होता गया। अंग्रेज़ों का विश्वास था कि किसी देश पर अच्छी तरह शासन चलाने के लिए उसको सही ढंग से जानना ज़रूरी होता है।

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत तक पूरे देश का नक्शा तैयार करने के लिए बड़े-बड़े सर्वेक्षण किए जाने लगे। गांवों में राजस्व सर्वेक्षण किए गए। इन सर्वेक्षणों में धरती की सतह, मिट्टी की गुणवत्ता, वहाँ मिलने वाले पेड़-पौधों और जीव-जंतुओं तथा स्थानीय इतिहासों व फ़सलों का पता लगाया जाता था। अंग्रेज़ों की राय में किसी इलाके का शासन चलाने के लिए इन सारी बातों को जानना ज़रूरी था। उन्नीसवीं सदी के आखिर से हर दस साल में जनगणना भी की जाने लगी। जनगणना के ज़रिए भारत के सभी प्रांतों में रहने वाले लोगों की संख्या, उनकी जाति, इलाके और व्यवसाय के बारे में जानकारियाँ इकट्ठा की जाती थीं। इसके अलावा वानस्पतिक सर्वेक्षण, प्राणि वैज्ञानिक सर्वेक्षण, पुरातात्वीय सर्वेक्षण, मानवशास्त्रीय सर्वेक्षण, वन सर्वेक्षण आदि कई दूसरे सर्वेक्षण भी किए जाते थे।

अधिकृत रिकॉर्ड्स से क्या पता नहीं चलता

रिकॉर्ड्स के इस विशाल भंडार से हम बहुत कुछ पता लगा सकते हैं। फिर भी, इस बात को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता कि ये सारे सरकारी

***चित्र 6** – बंगाल में मानचित्रण और सर्वेक्षण कार्य चल रहा है। जेम्स प्रिंसेप द्वारा बनाई गई तसवीर, 1832.*

ध्यान से देखें कि सर्वेक्षण में इस्तेमाल होने वाले सारे उपकरणों को चित्र के अगले हिस्से में दिखाया गया है। चित्रकार इस परियोजना के वैज्ञानिक स्वरूप पर ख़ासतौर से ज़ोर देना चाहता है।

© NCERT not to be republished

चित्र 7 *– 1857 के विद्रोही।*

तसवीरों को भी बहुत ध्यान से देखना चाहिए। उनसे हमें चित्रकार की सोच पता चलती है। 1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेज़ों द्वारा तैयार की गई सचित्र पुस्तकों में यह तसवीर कई जगह दिखाई देती है। इस तसवीर के नीचे लिखा होता था : "बागी सिपाही लूट–खसोट में लगे हुए हैं"। अंग्रेज़ों की नज़र में विद्रोही जनता लालची, दुष्ट और बेरहम थी। इस विद्रोह के बारे में आप अध्याय 5 में पढ़ेंगे।

रिकॉर्ड हैं। इनसे हमें यही पता चलता है कि सरकारी अफ़सर क्या सोचते थे, उनकी दिलचस्पी किन चीज़ों में थी और बाद के लिए वे किन चीज़ों को बचाए रखना चाहते थे। इन रिकॉर्ड्स से हमें ये समझने में हमेशा मदद नहीं मिलती कि देश के दूसरे लोग क्या महसूस करते थे और उनकी कार्रवाइयों की क्या वजह थी।

इन बातों को जानने के लिए हमें कहीं और देखना होगा। जब हम ऐसे दूसरे स्रोतों की तलाश में निकलते हैं तो उनकी भी कोई कमी नहीं रहती। लेकिन, सरकारी रिकॉर्ड्स के मुकाबले उन्हें ढूँढ़ना ज़रा मुश्किल साबित होता है। इस लिहाज़ से लोगों की डायरियाँ, तीर्थ यात्राओं और यात्रियों के संस्मरण, महत्वपूर्ण लोगों की आत्मकथाएँ और स्थानीय बाज़ारों में बिकने वाली लोकप्रिय पुस्तक–पुस्तिकाएँ महत्वपूर्ण हो जाती हैं। जैसे–जैसे छपाई की तकनीक फैली, अख़बार छपने लगे और विभिन्न मुद्दों पर जनता में बहस भी होने लगी। नेताओं और सुधारकों ने अपने विचारों को फैलाने के लिए लिखा, कवियों और उपन्यासकारों ने अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए लिखा।

लेकिन ये सारे स्रोत उन लोगों ने रचे हैं जो पढ़ना–लिखना जानते थे। इनसे हम यह पता नहीं लगा सकते कि आदिवासी और किसान, खदानों में काम करने वाले मज़दूर या सड़कों पर ज़िंदगी गुजारने वाले गरीब किस तरह के अनुभवों से गुजर रहे थे।

अगर हम थोड़ी और कोशिश करें तो हम इस बारे में भी जान सकते हैं। जैसे–जैसे आप इस किताब में आगे बढ़ेंगे, आपको यह बात समझ में आने लगेगी।

स्रोत 2

"इंसानों के खाने के लायक नहीं है"

अख़बारों से देश के विभिन्न विभागों में चल रहे आंदोलनों का पता चलता है। यहाँ 1946 में हुई पुलिस की एक हड़ताल की ख़बर दी गई है।

दिल्ली में 2000 से ज़्यादा पुलिसवालों ने बृहस्पतिवार सवेरे अपने कम वेतन और पुलिस लाइन्स बावर्चीखाने से आने वाले घटिया भोजन के ख़िलाफ़ खाना खाने से इनकार कर दिया।

जैसे–जैसे यह ख़बर दूसरे पुलिस थानों तक पहुँची, वहाँ भी पुलिस वालों ने खाने से इनकार कर दिया...। एक हड़ताली का कहना था : "पुलिस लाइन्स की रसोई से हमारे लिए जो खाना आता है वह कोई इंसान नहीं खा सकता। हमें जो चपाती और दाल खानी पड़ती है उसे जानवर तक नहीं खा सकते"।

हिंदुस्तान टाइम्स, 22 मार्च 1946

गतिविधि

स्रोत 1 और 2 को देखें। क्या आपको प्रतिवेदनों के स्वरूप में कोई फ़र्क दिखाई देता है। बताएँ कि आपको क्या फ़र्क लगता है।

© NCERT not to be republished

आइए कल्पना करें

कल्पना कीजिए कि आप इतिहासकार हैं। आप यह पता लगाना चाहते हैं कि आज़ादी मिलने के बाद एक दुर्गम आदिवासी इलाके की खेती में क्या बदलाव आए हैं। इन जानकारियों को ढूँढ़ने के विभिन्न तरीकों की सूची बनाएँ।

फिर से याद करें

1. सही और गलत बताएँ

(क) जेम्स मिल ने भारतीय इतिहास को हिंदू, मुसलिम, ईसाई, तीन काल खंडों में बाँट दिया था।

(ख) सरकारी दस्तावेज़ों से हमें ये समझने में मदद मिलती है कि आम लोग क्या सोचते हैं।

(ग) अंग्रेज़ों को लगता था कि सही तरह शासन चलाने के लिए सर्वेक्षण महत्वपूर्ण होते हैं।

आइए विचार करें

2. जेम्स मिल ने भारतीय इतिहास को जिस तरह काल खंडों में बाँटा है, उसमें क्या समस्याएँ हैं?

3. अंग्रेज़ों ने सरकारी दस्तावेज़ों को किस तरह सुरक्षित रखा?

4. इतिहासकार पुराने अख़बारों से जो जानकारी जुटाते हैं वह पुलिस की रिपोर्टों में उपलब्ध जानकारी से किस तरह अलग होती है?

आइए करके देखें

5. क्या आप आज की दुनिया के कुछ सर्वेक्षणों का उदाहरण दे सकते हैं? सोचकर देखिए कि खिलौना बनाने वाली कंपनियों को यह पता कैसे चलता है कि बच्चे किन चीज़ों को ज़्यादा पसंद करते हैं। या, सरकार को यह कैसे पता चलता है कि स्कूलों में बच्चों की संख्या कितनी है? इतिहासकार ऐसे सर्वेक्षणों से क्या हासिल कर सकते हैं?

© NCERT not to be republished

2 व्यापार से साम्राज्य तक कंपनी की सत्ता स्थापित होती है

0865CH02

मुग़ल बादशाहों में औरंगज़ेब आखिरी शक्तिशाली बादशाह थे। उन्होंने वर्तमान भारत के एक बहुत बड़े हिस्से पर नियंत्रण स्थापित कर लिया था। 1707 में उनकी मृत्यु के बाद बहुत सारे मुग़ल सूबेदार और बड़े-बड़े ज़मींदार अपनी ताकत दिखाने लगे थे। उन्होंने अपनी क्षेत्रीय रियासतें कायम कर ली थीं। जैसे-जैसे विभिन्न भागों में ताकतवर क्षेत्रीय रियासतें सामने आने लगीं, दिल्ली अधिक दिनों तक प्रभावी केन्द्र के रूप में नहीं रह सकी।

अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध तक राजनीतिक क्षितिज पर अंग्रेज़ों के रूप में एक नयी ताकत उभरने लगी थी। क्या आप जानते हैं कि अंग्रेज़ पहले-पहल एक छोटी-सी व्यापारिक कंपनी के रूप में भारत आए थे और यहाँ के इलाकों पर कब्ज़े में उनकी ज़्यादा दिलचस्पी नहीं थी? तो फिर ऐसा कैसे हुआ कि एक दिन वे इस विशाल साम्राज्य के स्वामी बन बैठे? इस अध्याय में आप देखेंगे कि यह कैसे हुआ?

चित्र 1 – कैप्टन हडसन द्वारा बहादुर शाह ज़फ़र और उनके बेटों की गिरफ़्तारी।

औरंगज़ेब के बाद कोई मुग़ल बादशाह इतना ताकतवर तो नहीं हुआ लेकिन एक प्रतीक के रूप में मुग़ल बादशाहों का महत्व बना हुआ था। जब 1857 में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भारी विद्रोह शुरू हो गया तो विद्रोहियों ने मुग़ल बादशाह बहादुर शाह ज़फ़र को ही अपना नेता मान लिया था। जब विद्रोह कुचल दिया गया तो कंपनी ने बहादुर शाह ज़फ़र को देश छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया और उनके बेटों को ज़फ़र के सामने ही मार डाला।

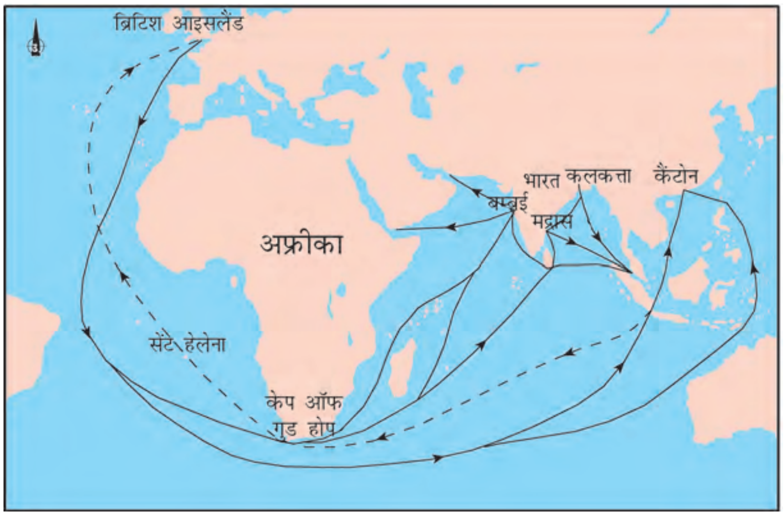

चित्र 2 – अठारहवीं सदी में भारत तक आने वाले रास्ते।

पूर्व में ईस्ट इंडिया कंपनी का आना

सन् 1600 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने इंग्लैंड की महारानी एलिज़ाबेथ प्रथम से चार्टर अर्थात इजाजतनामा हासिल कर लिया जिससे कंपनी को पूरब से व्यापार करने का एकाधिकार मिल गया। इस इज़ाज़तनामे का मतलब यह था कि इंग्लैंड की कोई और व्यापारिक कंपनी इस इलाके में ईस्ट इंडिया कंपनी से होड़ नहीं कर सकती थी। इस चार्टर के सहारे कंपनी समुद्र पार जाकर नए इलाकों को खँगाल सकती थी, वहाँ से सस्ती कीमत पर चीज़ें ख़रीद कर उन्हें यूरोप में ऊँची कीमत पर बेच सकती थी। कंपनी को दूसरी अंग्रेज़ व्यापारिक कंपनियों से प्रतिस्पर्धा का कोई भय नहीं था। उस ज़माने में **वाणिज्यिक** कंपनियाँ मोटे तौर पर प्रतिस्पर्धा से बचकर ही मुनाफा कमा सकती थीं। अगर कोई प्रतिस्पर्धी न हो तभी वे सस्ती चीज़ें ख़रीदकर उन्हें ज़्यादा कीमत पर बेच सकती थीं।

वाणिज्यिक – एक ऐसा व्यावसायिक उद्यम जिसमें चीज़ों को सस्ती कीमत पर ख़रीद कर और ज़्यादा कीमत पर बेचकर यानी मुख्य रूप से व्यापार के ज़रिए मुनाफा कमाया जाता है।

लेकिन यह शाही दस्तावेज़ दूसरी यूरोपीय ताकतों को पूरब के बाज़ारों में आने से नहीं रोक सकता था। जब तक इंग्लैंड के जहाज़ अफ्रीका के पश्चिम तट को छूते हुए केप ऑफ़ गुड होप का चक्कर लगाकर हिंद महासागर पार करते तब तक पुर्तगालियों ने भारत के पश्चिमी तट पर अपनी उपस्थिति दर्ज करा दी थी। वे गोवा में अपना ठिकाना बना चुके थे। पुर्तगाल के खोजी यात्री वास्को द गामा ने ही 1498 में पहली बार भारत तक पहुँचने के इस समुद्री मार्ग का पता लगाया था। सत्रहवीं शताब्दी की शुरुआत तक डच भी हिंद महासागर में व्यापार की संभावनाएँ तलाशने लगे थे। कुछ ही समय बाद फ्रांसीसी व्यापारी भी सामने आ गए।

समस्या यह थी कि सारी कंपनियाँ एक जैसी चीज़ें ही ख़रीदना चाहती थीं। यूरोप के बाज़ारों में भारत के बने बारीक सूती कपड़े और रेशम की जबरदस्त माँग थी। इनके अलावा काली मिर्च, लौंग, इलायची और दालचीनी की भी जबरदस्त माँग रहती थी। यूरोपीय कंपनियों के बीच इस बढ़ती प्रतिस्पर्धा से भारतीय बाज़ारों में इन चीज़ों की कीमतें बढ़ने लगीं और उनसे मिलने वाला मुनाफा गिरने लगा। अब इन व्यापारिक कंपनियों के फलने-फूलने का यही एक रास्ता था कि वे अपनी प्रतिस्पर्धी कंपनियों को खत्म कर दे। लिहाजा, बाज़ारों पर कब्जे की इस होड़ ने व्यापारिक कंपनियों के बीच लड़ाइयों की शुरुआत कर दी। सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में जब भी मौका मिलता कोई-सी एक कंपनी किसी दूसरी कंपनी के जहाज़ डूबो देती, रास्ते में रुकावटें खड़ी कर देती और माल से लदे जहाज़ों को आगे

© NCERT not to be republished

बढ़ने से रोक देती। यह व्यापार हथियारों की मदद से चल रहा था और व्यापारिक चौकियों को किलेबंदी के ज़रिए सुरक्षित रखा जाता था।

अपनी बस्तियों को किलेबंद करने और व्यापार में मुनाफा कमाने की इन कोशिशों के कारण स्थानीय शासकों से भी टकराव होने लगे। इस प्रकार, व्यापार और राजनीति को एक-दूसरे से अलग रखना कंपनी के लिए मुश्किल होता जा रहा था। आइए देखें कि यह कैसे हुआ।

ईस्ट इंडिया कंपनी बंगाल में व्यापार शुरू करती है

पहली इंग्लिश फैक्टरी 1651 में हुगली नदी के किनारे शुरू हुई। कंपनी के व्यापारी यहीं से अपना काम चलाते थे। इन व्यापारियों को उस जमाने में "फैक्टर" कहा जाता था। इस फैक्टरी में वेयरहाउस था जहाँ निर्यात होने वाली चीज़ों को जमा किया जाता था। यहीं पर उसके दफ़्तर थे जिनमें कंपनी के अफ़सर बैठते थे। जैसे-जैसे व्यापार फैला कंपनी ने सौदागरों और व्यापारियों को फैक्टरी के आस-पास आकर बसने के लिए प्रेरित किया। 1696 तक कंपनी ने इस आबादी के चारों तरफ एक क़िला बनाना शुरू कर दिया था। दो साल बाद उसने मुग़ल अफ़सरों को रिश्वत देकर तीन गाँवों की ज़मींदारी भी ख़रीद ली। इनमें से एक गाँव कालीकाता था जो बाद में कलकत्ता बना। अब इसे कोलकाता कहा जाता है। कंपनी ने मुग़ल सम्राट औरंगज़ेब को इस बात के लिए भी तैयार कर लिया कि वह कंपनी को बिना शुल्क चुकाए व्यापार करने का **फ़रमान** जारी कर दे।

फ़रमान – एक शाही आदेश

कंपनी ज़्यादा से ज़्यादा रियायतें हासिल करने और पहले से मौजूद अधिकारों का ज़्यादा से ज़्यादा फायदा उठाने में लगी हुई थी। उदाहरण के लिए, औरंगज़ेब के फरमान से केवल कंपनी को ही शुल्क मुक्त व्यापार का अधिकार मिला था। कंपनी के जो अफ़सर निजी तौर पर व्यापार चलाते उन्हें यह छूट नहीं थी। लेकिन उन्होंने भी शुल्क चुकाने से इनकार कर दिया। इससे बंगाल में राजस्व वसूली बहुत कम हो गई। ऐसे में भला बंगाल के नवाब मुर्शिद कुली खान विरोध क्यों न करते?

चित्र 3 – मद्रास के जहाज़ों से सामान लाती स्थानीय नौकाएँ, विलियम सिम्पसन द्वारा बनाया गया चित्र, 1867

© NCERT not to be republished

चित्र 4 – *रॉबर्ट क्लाइव।*

व्यापार से युद्धों तक

अठारहवीं सदी की शुरुआत में कंपनी और बंगाल के नवाबों का टकराव काफी बढ़ गया था। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद बंगाल के नवाब अपनी ताकत दिखाने लगे थे। उस समय दूसरी क्षेत्रीय ताकतों की स्थिति भी ऐसी ही थी। मुर्शिद कुली खान के बाद अली वर्दी खान और उसके बाद सिराजुद्दौला बंगाल के नवाब बने। ये सभी शक्तिशाली शासक थे। उन्होंने कंपनी को रियायतें देने से मना कर दिया। व्यापार का अधिकार देने के बदले कंपनी से नज़राने माँगे, उसे सिक्के ढालने का अधिकार नहीं दिया, और उसकी किलेबंदी को बढ़ाने से रोक दिया। कंपनी पर धोखाधड़ी का आरोप लगाते हुए उन्होंने दलील दी कि उसकी वजह से बंगाल सरकार की राजस्व वसूली कम होती जा रही है और नवाबों की ताकत कमज़ोर पड़ रही है। कंपनी टैक्स चुकाने को तैयार नहीं थी, उसके अफ़सरों ने अपमानजनक चिट्ठियाँ लिखीं और नवाबों व उनके अधिकारियों को अपमानित करने का प्रयास किया।

कंपनी का कहना था कि स्थानीय अधिकारियों की बेतुकी माँगों से कंपनी का व्यापार तबाह हो रहा है। व्यापार तभी फल-फूल सकता है जब सरकार शुल्क हटा ले। कंपनी को इस बात का भी यकीन था कि अपना व्यापार फैलाने के लिए उसे अपनी आबादी बढ़ानी होगी। गाँव ख़रीदने होंगे और किलों का पुनर्निर्माण करना होगा।

ये टकराव दिनोदिन गंभीर होते गए अन्ततः इन टकरावों की परिणति प्लासी के प्रसिद्ध युद्ध के रूप में हुई।

कठपुतली – यह एक खिलौना होता है जिसे आप धागों के सहारे अपने हिसाब से नचाते हैं। जो व्यक्ति किसी और के इशारों पर चलता है उसे भी मज़ाक उड़ाने के लिए अकसर कठपुतली कहा जाता है।

प्लासी का युद्ध

1756 में अली वर्दी खान की मृत्यु के बाद सिराजुद्दौला बंगाल के नवाब बने। कंपनी को सिराजुद्दौला की ताकत से काफी भय था। सिराजुद्दौला की जगह कंपनी एक ऐसा **कठपुतली** नवाब चाहती थी जो उसे व्यापारिक रियायतें और अन्य सुविधाएँ आसानी से देने में आनाकानी न करे। कंपनी ने प्रयास किया कि सिराजुद्दौला के प्रतिद्वंद्वियों में से किसी को नवाब बना दिया जाए। कंपनी को कामयाबी नहीं मिली। जवाब में सिराजुद्दौला ने हुक्म दिया कि कंपनी उनके राज्य के राजनीतिक मामलों में टाँग अड़ाना बंद कर दे, किलेबंदी रोके और बाकायदा राजस्व चुकाए। जब दोनों पक्ष पीछे हटने को तैयार नहीं हुए तो अपने 30,000 सिपाहियों के साथ नवाब ने कासिम बाज़ार में स्थित इंग्लिश फैक्टरी पर हमला बोल दिया। नवाब की फौजों ने कंपनी के अफ़सरों को गिरफ़्तार कर लिया, गोदाम पर ताला डाल दिया, अंग्रेज़ों के हथियार छीन लिए और अंग्रेज़ जहाज़ों को घेरे में ले लिया। इसके बाद नवाब ने कंपनी के कलकत्ता स्थित किले पर कब्ज़े के लिए उधर का रुख किया।

कलकत्ता के हाथ से निकल जाने की ख़बर सुनने पर मद्रास में तैनात कंपनी के अफ़सरों ने भी रॉबर्ट क्लाइव के नेतृत्व में सेनाओं को रवाना कर दिया। इस सेना को नौसैनिक बेड़े की मदद भी मिल रही थी। इसके बाद

क्या आप जानते थे?

क्या आप जानते थे कि प्लासी का यह नाम किस तरह पड़ा? दरअसल असली नाम पलाशी था जिसे अंग्रेज़ों ने बिगाड़ कर प्लासी कर दिया था। इस जगह को पलाशी यहाँ पाए जाने वाले पलाश के फूलों के कारण कहा जाता था। पलाश के खूबसूरत लाल फूलों से गुलाल बनाया जाता है जिसका होली पर इस्तेमाल होता है।

© NCERT not to be republished

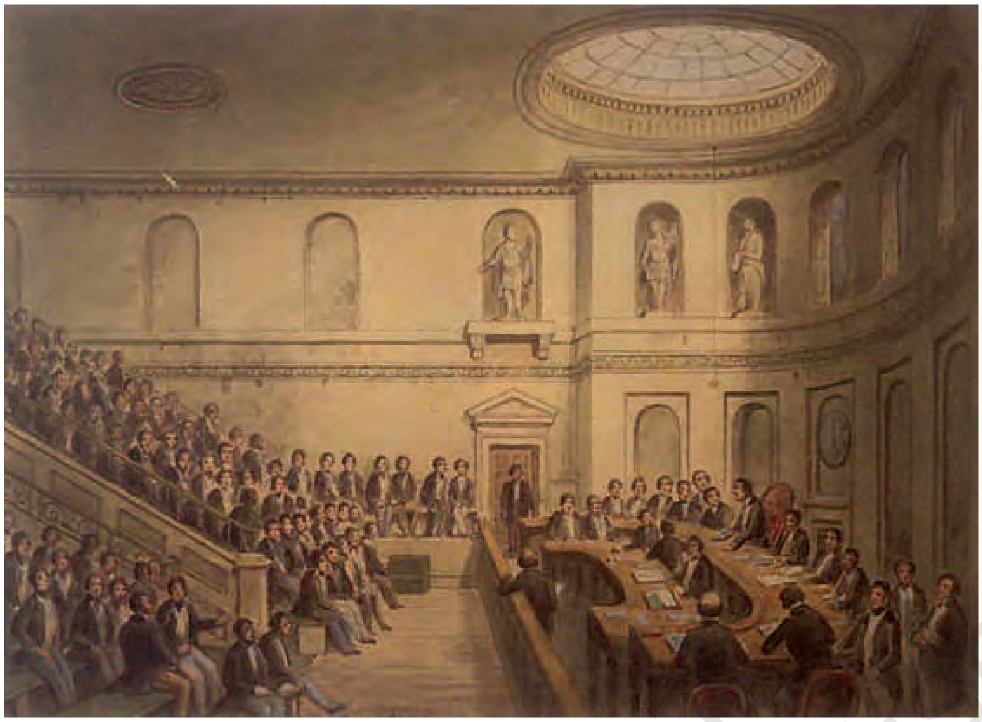

चित्र 5 – *महान्यायालय कक्ष, ईस्ट इंडिया हाउस, लेडनहॉल स्ट्रीट।*

ईस्ट इंडिया कंपनी के कोर्ट ऑफ प्रॉपराइटर्स की लंदन स्थित लेडनहॉल स्ट्रीट पर बने ईस्ट इंडिया हाउस में बैठकें होती थीं। यह ऐसी ही एक सभा का चित्र है।

चित्र 6 – *सिराजुद्दौला*

नवाब के साथ लंबे समय तक सौदेबाजी चली। आखिरकार 1757 में रॉबर्ट क्लाइव ने प्लासी के मैदान में सिराजुद्दौला के ख़िलाफ़ कंपनी की सेना का नेतृत्व किया। नवाब सिराजुद्दौला की हार का एक बड़ा कारण उसके सेनापतियों में से एक सेनापति मीर जाफ़र की कारगुजारियाँ भी थीं। मीर जाफ़र की टुकड़ियों ने इस युद्ध में हिस्सा नहीं लिया। रॉबर्ट क्लाइव ने यह कहकर उसे अपने साथ मिला लिया था कि सिराजुद्दौला को हटा कर मीर जाफ़र को नवाब बना दिया जाएगा।

स्रोत 1

संपन्नता का आश्वासन

इंग्लैंड के लोग ईस्ट इंडिया कंपनी की शासकीय महत्वाकांक्षाओं को संदेह और अविश्वास से देखते थे। प्लासी की लड़ाई के बाद रॉबर्ट क्लाइव ने अंग्रेज़ सम्राट के एक मुख्य विदेश मंत्री विलियम पिट को 7 जनवरी 1759 को कलकत्ते से यह चिट्ठी भेजी थी :

> लेकिन इतनी विशाल सत्ता एक वाणिज्यिक कंपनी के लिए बहुत बड़ी बात होगी... मैं खुद यह सोच कर अभिभूत हूँ... कि इन समृद्ध रियासतों पर पूरा कब्ज़ा हासिल करने में कोई परेशानी नहीं आएगी : ... अब मैं यह फैसला आप पर छोड़ता हूँ कि क्या सालाना बीस लाख स्टर्लिंग की आमदनी और तीन प्रांतों का कब्ज़ा... कोई ऐसी चीज़ है जिस पर इतना शोर मचाना उचित हो...।

स्रोत 2

नवाब की शिकायतें

1733 में बंगाल के नवाब ने इंग्लिश व्यापारियों के बारे में यह कहा था:

> जब वे पहली बार हमारे देश में आए थे तो उन्होंने सरकार के सामने विनती करते हुए कहा था कि उन्हें एक फैक्टरी बनाने के लिए थोड़ी-सी ज़मीन दे दी जाए। उन्हें वह ज़मीन तो मिल गई पर उन्होंने तो वहाँ मज़बूत क़िला ही खड़ा कर डाला। इसके चारों तरफ गड्ढे बना दिये जो नदी से जुड़ते हैं। दीवारों पर उन्होंने न जाने कितनी तोपें तैनात कर दी हैं। उन्होंने बहुत सारे सौदागरों और अन्य लोगों को अपने मातहत रहने के लिए तैयार कर लिया है और वह एक लाख रुपये राजस्व वसूल कर रहे हैं.... वे असंख्य औरतों और मर्दों को उनके ही देश में ग़ुलाम बनाकर लूट-खसोट रहे हैं।

प्लासी की जंग इसलिए महत्वपूर्ण मानी जाती है क्योंकि भारत में यह कंपनी की पहली बड़ी जीत थी।

प्लासी की जंग के बाद सिराजुद्दौला को मार दिया गया और मीर जाफर नवाब बना। कंपनी अभी भी शासन की ज़िम्मेदारी सँभालने को तैयार नहीं थी। उसका मूल उद्देश्य तो व्यापार को फैलाना था। अगर यह काम स्थानीय शासकों की मदद से बिना लड़ाई लड़े ही किया जा सकता था तो किसी राज्य को सीधे अपने कब्ज़े में लेने की क्या ज़रूरत थी।

जल्दी ही कंपनी को एहसास होने लगा कि यह रास्ता भी आसान नहीं है। कठपुतली नवाब भी हमेशा कंपनी के इशारों पर नहीं चलते थे। आखिरकार उन्हें भी तो अपनी प्रजा की नज़र में सम्मान और संप्रभुता का दिखावा करना पड़ता था।

तो फिर कंपनी क्या करती? जब मीर जाफ़र ने कंपनी का विरोध किया तो कंपनी ने उसे हटाकर मीर कासिम को नवाब बना दिया। जब मीर कासिम परेशान करने लगा तो बक्सर की लड़ाई (1764) में उसको भी हराना पड़ा। उसे बंगाल से बाहर कर दिया गया और मीर जाफर को दोबारा नवाब बनाया गया। अब नवाब को हर महीने पाँच लाख रुपए कंपनी को चुकाने थे। कंपनी अपने सैनिक खर्चों से निपटने, व्यापारिक ज़रूरतों तथा अन्य खर्चों को पूरा करने के लिए और पैसा चाहती थी। कंपनी और ज़्यादा इलाके तथा और ज़्यादा कमाई चाहती थी। 1765 में जब मीर जाफ़र की मृत्यु हुई तब तक कंपनी के इरादे बदल चुके थे। कठपुतली नवाबों के साथ अपने खराब अनुभवों को देखते हुए क्लाइव ने ऐलान किया कि अब "हमें खुद ही नवाब बनना पड़ेगा।"

आख़िरकार 1765 में मुग़ल सम्राट ने कंपनी को ही बंगाल प्रांत का दीवान नियुक्त कर दिया। दीवानी मिलने के कारण कंपनी को बंगाल के विशाल राजस्व संसाधनों पर नियंत्रण मिल गया था। इस तरह कंपनी की एक पुरानी समस्या हल हो गयी थी। अठारहवीं सदी की शुरुआत से ही भारत के साथ उसका व्यापार बढ़ता जा रहा था। लेकिन उसे भारत में ज़्यादातर चीज़ें ब्रिटेन से लाए गए सोने और चाँदी के बदले में ख़रीदनी पड़ती थीं। इसकी वजह ये थी कि उस समय ब्रिटेन के पास भारत में बेचने के लिए कोई चीज़ नहीं थी। प्लासी की जंग के बाद ब्रिटेन से सोने की निकासी कम होने लगी और बंगाल की दीवानी मिलने के बाद तो ब्रिटेन से सोना लाने की ज़रूरत ही नहीं रही। अब भारत से होने वाली आमदनी के सहारे ही कंपनी अपने खर्चे चला सकती थी। इस कमाई से कंपनी भारत में सूती और रेशमी कपड़ा ख़रीद सकती थी, अपनी फौजों को सँभाल सकती थी और कलकत्ते में किलों और दफ़्तरों के निर्माण की लागत उठा सकती थी।

कंपनी के अफ़सर 'नबॉब' बन बैठे

नवाब बनने का क्या मतलब था? इसका एक मतलब तो यही था कि कंपनी के पास अब सत्ता और ताकत थी। लेकिन इसके कुछ और फायदे भी थे। कंपनी का हर कर्मचारी नवाबों की तरह जीने के ख्वाब देखने लगा था।

2019-2020

प्लासी के युद्ध के बाद बंगाल के असली नवाबों को इस बात के लिए बाध्य कर दिया गया कि वे कंपनी के अफ़सरों को निजी तोहफे के तौर पर ज़मीन और बहुत सारा पैसा दें। खुद रॉबर्ट क्लाइव ने ही भारत में बेहिसाब दौलत जमा कर ली थी। 1743 में जब वह इंग्लैंड से मद्रास (अब चैन्नई) आया था तो उसकी उम्र 18 साल थी। 1767 में जब वह दो बार गवर्नर बनने के बाद हमेशा के लिए भारत से रवाना हुआ तो यहाँ उसकी दौलत 401,102 पौंड के बराबर थी। दिलचस्प बात यह है कि गवर्नर के अपने दूसरे कार्यकाल में उसे कंपनी के भीतर फैले भ्रष्टाचार को खत्म करने का काम सौंपा गया था। लेकिन 1772 में ब्रिटिश संसद में उसे खुद भ्रष्टाचार के आरोपों पर अपनी सफ़ाई देनी पड़ी। सरकार को उसकी अकूत संपत्ति के स्रोत संदेहास्पद लग रहे थे। उसे भ्रष्टाचार आरोपों से बरी तो कर दिया गया लेकिन 1774 में उसने आत्महत्या कर ली।

कंपनी के सभी अफ़सर क्लाइव की तरह दौलत इकट्ठा नहीं कर पाए। बहुत सारी बीमारियों और लड़ाई के कारण कम उम्र में ही मौत का निवाला बन गए। इसके अलावा उन सभी को भ्रष्ट और बेईमान मानना भी सही नहीं होगा। उनमें से बहुत सारे अफ़सर साधारण परिवारों से आए थे। उनकी सबसे बड़ी इच्छा बस यही थी कि वे भारत में ठीक-ठाक पैसा कमाएँ और ब्रिटेन लौटकर आराम की ज़िंदगी बसर करें। जो जीते जी धन-दौलत लेकर वापस लौट गए उन्होंने वहाँ आलीशान जीवन जिया। उन्हें वहाँ के लोग "नबॉब" कहते थे। यह भारतीय शब्द 'नवाब' का ही अंग्रेज़ी संस्करण बन गया था। उन्हें लोग अकसर नए अमीरों और सामाजिक हैसियत में रातों-रात ऊपर आने वाले लोगों के रूप में देखते थे। नाटकों और कार्टूनों में उनका मज़ाक उड़ाया जाता था।

कंपनी का फैलता शासन

यदि हम 1757 से 1857 के बीच ईस्ट इंडिया कंपनी के द्वारा भारतीय राज्यों पर कब्ज़े की प्रक्रिया को देखें तो कुछ महत्वपूर्ण बातें सामने आती हैं। किसी अनजान इलाके में कंपनी ने सीधे सैनिक हमला प्राय: नहीं किया। उसने किसी भी भारतीय रियासत का अधिग्रहण करने से पहले विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक और कूटनीतिक साधनों का इस्तेमाल किया।

बक्सर की लड़ाई (1764) के बाद कंपनी ने भारतीय रियासतों में रेज़िडेंट तैनात कर दिये। ये कंपनी के राजनीतिक या व्यावसायिक प्रतिनिधि होते थे। उनका काम कंपनी के हितों की रक्षा करना और उन्हें आगे बढ़ाना था। रज़िडेंट के माध्यम से कंपनी के अधिकारी भारतीय राज्यों के भीतरी मामलों में भी दखल देने लगे थे। अगला राजा कौन होगा, किस पद पर किसको बिठाया जाएगा, इस तरह की चीज़ें भी कंपनी के अफ़सर ही तय करना चाहते थे। कई बार कंपनी ने रियासतों पर "सहायक संधि" भी थोप दी। जो रियासत इस बंदोबस्त को मान लेती थी उसे अपनी स्वतंत्र सेनाएँ रखने का अधिकार नहीं रहता था। उसे कंपनी की तरफ से सुरक्षा मिलती

स्रोत 3

क्लाइव खुद को कैसे देखता था?

संसद की एक समिति के सामने सुनवाई के दौरान क्लाइव ने कहा था कि प्लासी की लड़ाई के बाद उसने ज़बरदस्त संयम का परिचय दिया। आइए देखें उसने क्या कहा:

> उस स्थिति की कल्पना कीजिए जहाँ प्लासी की जीत ने मुझे ला खड़ा कर दिया था! एक ताकतवर राजा मेरे इशारों पर चल रहा था; एक संपन्न शहर मेरी दया पर था। उसके सबसे दौलतमंद महाजन मेरी एक-एक मुस्कुराहट के लिए एक-दूसरे की गिरेबान खींच रहे थे। मैं ऐसे खज़ानों के बीच से गुज़र रहा था जो सिर्फ़ मेरे लिए खुले हुए थे, एक तरफ सोना और दूसरी तरफ जवाहरात थे! अध्यक्ष महोदय, मैं अपने इस संयम को देखकर खुद हैरान हूँ।

गतिविधि

कल्पना कीजिए कि आप कंपनी के एक युवा अफ़सर हैं और कुछ महीने के लिए भारत आए हैं। अब इंग्लैंड में रहने वाली अपनी माँ के नाम एक चिट्ठी लिखकर उन्हें अपनी ऐशो-आराम भरी ज़िंदगी के बारे में बताएँ और उसकी तुलना ब्रिटेन में अपने पुराने जीवन से करें।

2019-2020

चित्र 7 - अपने बेटों और ब्रिटिश रेज़िडेन्ट के साथ खड़े नवाब शुजाउद्दौला, टिली कैटल द्वारा बनाया चित्र (तैल, 1772)।

बक्सर की लड़ाई के बाद हुई संधियों के फलस्वरूप नवाब शुजाउद्दौला के ज़्यादातर अधिकार छिन गए थे लेकिन यहाँ वह रेज़िडेन्ट के सामने अपनी चिर-परिचित शाही शानो-शौकत के साथ दिखाई दे रहे हैं।

निषेधाज्ञा - निर्देश।
अधीनस्थता - दब्बूपन

थी और "सहायक सेना" के रखरखाव के लिए वह कंपनी को पैसा देती थी। अगर भारतीय शासक रकम अदा करने में चूक जाते थे तो जुर्माने के तौर पर उनका इलाका कंपनी अपने कब्ज़े में ले लेती थी। उदाहरण के लिए, जब रिचर्ड वेलेज़्ली गवर्नर-जनरल (1798-1805) था, उस समय अवध के नवाब को 1801 में अपना आधा इलाका कंपनी को सौंपने के लिए मजबूर किया गया क्योंकि नवाब "सहायक सेना" के लिए पैसा अदा करने में चूक गए थे। इसी आधार पर हैदराबाद के भी कई इलाके छीन लिए गए।

स्रोत 4

रेज़िडेन्ट की ताकत क्या होती थी?

कंपनी द्वारा नियुक्त किए गए रेज़िडेन्ट्स के बारे में स्कॉटलैंड के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री और राजनीतिक दार्शनिक जेम्स मिल ने यह कहा था :

> दरअसल रेज़िडेन्ट रियासत का राजा होता है। हम उसे अहस्तक्षेप की मनचाही **निषेधाज्ञा** के तहत काम करने की छूट देते हैं। जब तक स्थानीय राजा पूरी तरह **अधीनस्थ** रहता है और रेज़िडेन्ट यानी ब्रिटिश सरकार के माफ़िक काम करता है तो चीज़ें आराम से चलती रहती हैं। शासन के कामों में रेज़िडेन्ट की दखलंदाजी के बिना सब कुछ चल जाता है.... जब भी कुछ अलग तरह का घटता है, जब भी राजा कोई ऐसा रास्ता अपनाता है जिसे ब्रिटिश सरकार गलत मानती है तो टकराव और उथल-पुथल पैदा हो जाती है।

जेम्स मिल (1832)

टीपू सुल्तान - "शेर-ए-मैसूर"

जब कंपनी को अपने राजनीतिक और आर्थिक हितों पर खतरा दिखाई दिया तो कंपनी ने प्रत्यक्ष सैनिक टकराव का रास्ता भी अपनाया। दक्षिण भारतीय राज्य मैसूर के उदाहरण से यह बात समझी जा सकती है।

हैदर अली (शासन काल 1761 से 1782) और उनके विख्यात पुत्र टीपू सुल्तान (शासन काल 1782 से 1799) जैसे शक्तिशाली शासकों के नेतृत्व में मैसूर काफी ताकतवर हो चुका था। मालाबार तट पर होने वाला व्यापार मैसूर रियासत के नियंत्रण में था जहाँ से कंपनी काली मिर्च और इलायची ख़रीदती थी। 1785 में टीपू सुल्तान ने अपनी रियासत में पड़ने वाले बंदरगाहों से चंदन की लकड़ी, काली मिर्च और इलायची का निर्यात रोक दिया। सुल्तान ने स्थानीय सौदागरों को भी कंपनी के साथ कारोबार करने से रोक दिया था। टीपू सुल्तान ने भारत में रहने वाले फ़्रांसीसी व्यापारियों से घनिष्ठ संबंध विकसित किए और उनकी मदद से अपनी सेना का आधुनिकीकरण किया।

चित्र 8 - टीपू सुल्तान।

© NCERT not to be republished

चित्र 9 – टीपू सुल्तान के बेटों को बंधक के रूप में कॉर्नवालिस के सामने पेश किया जा रहा है। डेनियल ऑर्म द्वारा चित्रित, 1793.

कंपनी की फौजों को हैदर अली और टीपू सुल्तान ने कई बार युद्ध में हराया था। लेकिन 1792 में मराठों, हैदराबाद के निज़ाम और कंपनी की संयुक्त फौजों के हमले के बाद टीपू सुल्तान को अंग्रेज़ों से संधि करनी पड़ी। इस संधि के तहत उनके दो बेटों को अंग्रेज़ों ने बंधक के रूप में अपने पास रख लिया। ब्रिटिश चित्रकारों को ऐसे दृश्यों की तसवीर बनाने में मज़ा आता था जिनमें अंग्रेज़ों की सत्ता की विजय दिखाई देती थी।

सुल्तान के इन कदमों से अंग्रेज़ आग-बबूला हो गए। उन्हें हैदर अली और टीपू सुल्तान बहुत महत्वाकांक्षी, घमण्डी और ख़तरनाक दिखाई देते थे। अंग्रेज़ों को लगता था कि ऐसे राजाओं को नियंत्रित करना और कुचलना ज़रूरी है। फलस्वरूप, मैसूर के साथ अंग्रेज़ों की चार बार जंग हुई (1767-69, 1780-84, 1790-92 और 1799)। श्रीरंगपट्म की आखिरी जंग में कंपनी को सफलता मिली। अपनी राजधानी की रक्षा करते हुए टीपू सुल्तान मारे गए और मैसूर का राजकाज पुराने वोडियार राजवंश के हाथों में सौंप दिया गया। इसके साथ ही मैसूर पर भी सहायक संधि थोप दी गई।

टीपू की कहानियाँ

राजाओं की छवि अकसर जनश्रुतियों से भी बनती है। प्रचलित किस्सों में उनकी ताकत का खूब यशगान किया जाता है। 1782 में मैसूर के राजा बने टीपू सुल्तान के बारे में कहा जाता है कि एक बार वे अपने फ़्रांसीसी दोस्त के साथ जंगल में शिकार खेलने गए थे। वहाँ एक शेर उनके सामने आ गया। उनकी बंदूक ने मौके पर साथ नहीं दिया और कटार भी ज़मीन पर गिर गई। फिर भी टीपू ने निहत्थे ही शेर का मुकाबला किया और आखिरकार कटार उठा ली। अंत में उन्होंने शेर को मार गिराया। इसी के बाद से उन्हें "शेर-ए-मैसूर" कहा जाने लगा था। उनके राजसी झंडे पर भी शेर की तसवीर होती थी।

चित्र 10 – टीपू का खिलौना शेर।

यह टीपू के एक विशालकाय मशीनी खिलौने की तसवीर है। इसमें यह नकली शेर एक यूरोपीय सिपाही को दबाए हुए है। जब इसका हैण्डल घुमाया जाता था तो नकली शेर दहाड़ता था और सिपाही के भीतर से चीख की आवाजें आती थीं। अब यह खिलौना शेर लंदन स्थित विक्टोरिया एंड एल्बर्ट म्यूज़ियम में रखा है। 4 मई 1799 को जब अपनी राजधानी श्रीरंगपट्म की रक्षा करते हुए टीपू सुल्तान की मृत्यु हो गई तो अंग्रेज़ इस खिलौने को भी अपने साथ ले गए।

2019-2020

गतिविधि

कल्पना कीजिए कि आपको श्रीरंगपट्म के युद्ध और टीपू सुल्तान की मौत के बारे में ख़बर देने वाले दो पुराने अख़बार मिलते हैं। एक अख़बार ब्रिटेन का है और दूसरा मैसूर का है। दोनों अख़बारों के लिए इन घटनाओं के बारे में एक-एक सुर्खी लिखिए।

कन्फ़ेडरेसी – गठबंधन

चित्र 11 – लॉर्ड हेस्टिंग्स।

चित्र 12 – किट्टूर रानी चेन्नमा की स्मृति में बनाई गई मूर्ति।

मराठों से लड़ाई

अठारहवीं शताब्दी के आखिर से कंपनी मराठों की ताकत को भी क़ाबू और खत्म करने के बारे में सोचने लगी थी। 1761 में पानीपत की तीसरी लड़ाई में हार के बाद दिल्ली से देश का शासन चलाने का मराठों का सपना चूर-चूर हो गया। उन्हें कई राज्यों में बाँट दिया गया। इन राज्यों की बागडोर सिंधिया, होलकर, गायकवाड और भोंसले जैसे अलग-अलग राजवंशों के हाथों में थी। ये सारे सरदार एक पेशवा (सर्वोच्च मंत्री) के अंतर्गत एक **कन्फ़ेडरेसी**(राज्यमण्डल) के सदस्य थे। पेशवा इस राज्यमण्डल का सैनिक और प्रशासकीय प्रमुख होता था और पुणे में रहता था। महाद्जी सिंधिया और नाना फड़नीस अठारहवीं सदी के आखिर के दो प्रसिद्ध मराठा योद्धा और राजनीतिज्ञ थे।

एक के बाद एक कई युद्धों में कंपनी ने मराठों को घुटने टेकने पर मजबूर कर दिया। पहला युद्ध 1782 में सालबाई संधि के साथ खत्म हुआ जिसमें कोई पक्ष नहीं जीत पाया। दूसरा अंग्रेज़-मराठा युद्ध (1803-05) कई मोर्चों पर लड़ा गया। इसका नतीजा यह हुआ कि उड़ीसा और यमुना के उत्तर में स्थित आगरा व दिल्ली सहित कई भूभाग अंग्रेज़ों के कब्ज़े में आ गए। अंतत:, 1817-19 के तीसरे अंग्रेज़-मराठा युद्ध में मराठों की ताकत को पूरी तरह कुचल दिया गया। पेशवा को पुणे से हटाकर कानपुर के पास बिठूर में पेंशन पर भेज दिया गया। अब विंध्य के दक्षिण में स्थित पूरे भूभाग पर कंपनी का नियंत्रण हो चुका था।

सर्वोच्चता का दावा

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि उन्नीसवीं सदी की शुरुआत से कंपनी क्षेत्रीय विस्तार की आक्रामक नीति पर चल रही थी। लॉर्ड हेस्टिंग्स (1813 से 1823 तक गवर्नर-जनरल) के नेतृत्व में "सर्वोच्चता" की एक नयी नीति शुरू की गई। कंपनी का दावा था कि उसकी सत्ता सर्वोच्च है इसलिए वह भारतीय राज्यों से ऊपर है। अपने हितों की रक्षा के लिए वह भारतीय रियासतों का अधिग्रहण करने या उनको अधिग्रहण की धमकी देने का अधिकार अपने पास मानती थी। यह सोच बाद में भी अंग्रेज़ों की नीतियों में दिखाई देती रही।

लेकिन यह प्रक्रिया बेरोकटोक नहीं चली। उदाहरण के लिए, जब अंग्रेज़ों ने कित्तूर (फिलहाल कर्नाटक में) के छोटे से राज्य को कब्ज़े में लेने का प्रयास किया तो रानी चेन्नम्मा ने हथियार उठा लिए और अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ आंदोलन छेड़ दिया। 1824 में उन्हें गिरफ़्तार किया गया और 1829 में जेल में ही उनकी मृत्यु हो गई। चेन्नम्मा के बाद कित्तूर स्थित संगोली के एक गरीब चौकीदार रायन्ना ने यह प्रतिरोध जारी रखा। चौतरफा समर्थन और सहायता से उन्होंने बहुत सारे ब्रिटिश शिविरों और दस्तावेज़ों को नष्ट कर दिया था। आखिरकार उन्हें भी अंग्रेज़ों ने पकड़कर 1830 में फाँसी पर लटका दिया। प्रतिरोध के ऐसे कई दूसरे उदाहरण आप इस किताब में आगे पढ़ेंगे।

© NCERT not to be republished

1830 के दशक के अंत में ईस्ट इंडिया कंपनी रूस के प्रभाव से बहुत डरी हुई थी। कंपनी को भय था कि कहीं रूस का प्रभाव पूरे एशिया में फैलकर उत्तर-पश्चिम से भारत को भी अपनी चपेट में न ले ले। इसी डर के चलते अंग्रेज़ अब उत्तर-पश्चिमी भारत पर भी अपना नियंत्रण स्थापित करना चाहते थे। उन्होंने 1838 से 1842 के बीच अफ़गानिस्तान के साथ एक लंबी लड़ाई लड़ी और वहाँ अप्रत्यक्ष कंपनी शासन स्थापित कर लिया। 1843 में सिंध भी कब्ज़े में आ गया। इसके बाद पंजाब की बारी थी। यहाँ महाराजा रणजीत सिंह ने कंपनी की दाल नहीं गलने दी। 1839 में उनकी मृत्यु के बाद इस रियासत के साथ दो लंबी लड़ाइयाँ हुईं और आखिरकार 1849 में अंग्रेज़ों ने पंजाब का भी अधिग्रहण कर लिया।

चित्र 13 – महाराजा रणजीत सिंह का दरबार।

विलय नीति

अधिग्रहण की आखिरी लहर 1848 से 1856 के बीच गवर्नर-जनरल बने लॉर्ड डलहौज़ी के शासन काल में चली। लॉर्ड डलहौज़ी ने एक नयी नीति अपनाई जिसे विलय नीति का नाम दिया गया। यह सिद्धांत इस तर्क पर आधारित था कि अगर किसी शासक की मृत्यु हो जाती है और उसका कोई पुरुष वारिस नहीं है तो उसकी रियासत हड़प कर ली जाएगी यानी कंपनी के भूभाग का हिस्सा बन जाएगी। इस सिद्धांत के आधार पर एक के बाद एक कई रियासतें – सतारा (1848), संबलपुर (1850), उदयपुर (1852), नागपुर (1853) और झाँसी (1854) – अंग्रेज़ों के हाथ में चली गईं।

आखिरकार 1856 में कंपनी ने अवध को भी अपने नियंत्रण में ले लिया। इस बार अंग्रेज़ों ने एक नया तर्क दिया। उन्होंने कहा कि वे अवध की जनता को नवाब के "कुशासन" से आज़ाद कराने के लिए "कर्तव्य से बँधे" हुए हैं इसलिए वे अवध पर कब्ज़ा करने को मजबूर हैं! अपने प्रिय नवाब को जिस तरह से गद्दी से हटाया गया, उसे देखकर लोगों में गुस्सा भड़क उठा और अवध के लोग भी 1857 के महान विद्रोह में शामिल हो गए।

चित्र 14 – संबरपुर के वीर सुरेन्द्र साय का चित्र।

गतिविधि

कल्पना कीजिए कि आप नवाब के भतीजे हैं। आपको बचपन से ही यह एहसास कराया गया है कि एक दिन आप राजगद्दी सँभालेंगे। अब आपको पता चलता है कि विलय नीति के कारण अंग्रेज़ आपको राजा नहीं बनने देंगे। आपको कैसा लगेगा? राजगद्दी पाने के लिए आप क्या करेंगे?

2019-2020

चित्र 11 (a) भारत, 1797

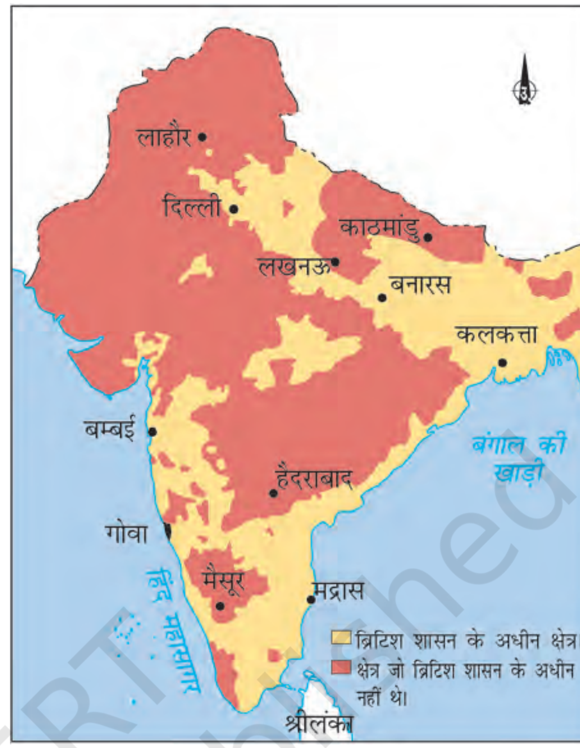

चित्र 11 (b) भारत, 1840

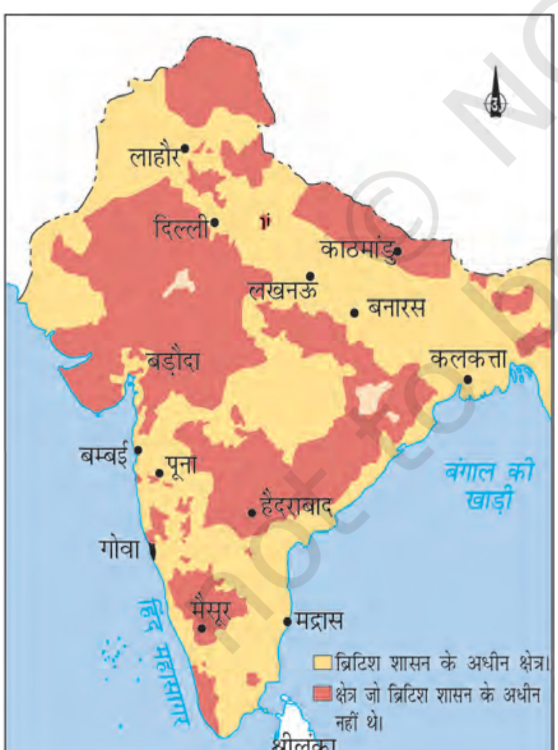

चित्र 11 (c) भारत, 1857

चित्र 11 (a), (b), (c) *– भारत में अंग्रेज़ों की फैलती सत्ताएँ।*

इन नक्शों को भारत के वर्तमान राजनीतिक नक्शे के साथ रखकर देखें। तीनों नक्शों में उन इलाकों की पहचान करें जो ब्रिटिश शासन के अंतर्गत नहीं थे।

नए शासन की स्थापना

गवर्नर–जनरल वॉरेन हेस्टिंग्स (1773–1785) उन बहुत सारे महत्वपूर्ण व्यक्तियों में से था जिन्होंने कंपनी की ताकत फैलाने में अहम भूमिका अदा की थी। वॉरेन हेस्टिंग्स के समय तक आते–आते कंपनी न केवल बंगाल बल्कि बम्बई और मद्रास में भी सत्ता हासिल कर चुकी थी। ब्रिटिश इलाके मोटे तौर पर प्रशासकीय इकाइयों में बँटे हुए थे जिन्हें प्रेज़िडेंसी कहा जाता था। उस समय तीन प्रेज़िडेंसी थीं – बंगाल, मद्रास और बम्बई। हरेक का शासन गवर्नर के पास होता था। सबसे ऊपर गवर्नर–जनरल होता था। वॉरेन हेस्टिंग्स ने कई प्रशासकीय सुधार किए। न्याय के क्षेत्र में उसके सुधार ख़ासतौर से उल्लेखनीय थे।

1772 से एक नयी न्याय व्यवस्था स्थापित की गई। इस व्यवस्था में प्रावधान किया गया कि हर जिले में दो अदालतें होंगी – फ़ौजदारी अदालत और दीवानी अदालत। दीवानी अदालतों के मुखिया यूरोपीय ज़िला कलेक्टर होते थे। मौलवी और हिंदू पंडित उनके लिए भारतीय कानूनों की व्याख्या करते थे। फ़ौजदारी अदालतें अभी भी **काज़ी** और **मुफ़्ती** के ही अंतर्गत थीं लेकिन वे भी कलेक्टर की निगरानी में काम करते थे।

काज़ी – एक न्यायाधीश।

मुफ़्ती – मुसलिम समुदाय का एक न्यायविद जो कानूनों की व्याख्या करता है। काज़ी इसी व्याख्या के आधार पर फ़ैसले सुनाता है।

महाभियोग – जब इंग्लैंड के हाउस ऑफ कॉमंस में किसी व्यक्ति के ख़िलाफ़ दुराचरण का आरोप लगाया जाता है तो हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स (संसद का ऊपरी सदन) में उस व्यक्ति के ख़िलाफ़ मुकदमा चलता है। इसे महाभियोग कहा जाता है।

चित्र 12 *– वॉरेन हेस्टिंग्स पर मुकदमा, आर.जी. पॉलार्ड द्वारा चित्रित, 1789.*

जब वॉरेन हेस्टिंग्स 1785 में इंग्लैंड लौटा तो ऐडमंड बर्के ने उस पर बंगाल का शासन सही ढंग से न चलाने का आरोप जड़ दिया। इस आरोप के चलते हेस्टिंग्स पर ब्रिटिश संसद में **महाभियोग** का मुकदमा चलाया गया जो सात साल चला।

स्रोत 5

"मैं सबके शत्रु और उत्पीड़क पर महाभियोग चला रहा हूँ।"

वॉरेन हेस्टिंग्स के महाभियोग की कार्रवाई के दौरान ऐडमंड बर्क ने एक उत्तेजनापूर्ण भाषण दिया जिसका एक हिस्सा इस प्रकार था :

> मैं उनके (हेस्टिंग्स के) ऊपर भारत के लोगों की ओर से महाभियोग चला रहा हूँ जिनके अधिकारों को उन्होंने पैरों तले रौंद दिया और जिनके देश को उन्होंने रेगिस्तान बना दिया है। अंत में, मानव स्वभाव के नाम पर, स्त्री-पुरुष के नाम पर, हर उम्र के नाम पर, हर ओहदे के नाम पर मैं सबके साझा शत्रु और सबके उत्पीड़क पर महाभियोग चला रहा हूँ।

धर्मशास्त्र – संस्कृत की ऐसी कृतियाँ जिनमें सामाजिक तौर-तरीकों और आचरण के सिद्धांतों की व्याख्या की जाती है। ये धर्मशास्त्र ईसा पूर्व 500 वर्ष से भी पहले लिखे गए थे।

सवार – घुड़सवार

मस्केट - पैदल सिपाहियों द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली एक भारी बंदूक।

मैचलॉक – शुरुआती दौर की बंदूक जिसमें बारूद को माचिस से चिंगारी दी जाती थी।

एक बड़ी समस्या यह थी कि ब्राह्मण पंडित **धर्मशास्त्र** की अलग-अलग शाखाओं के हिसाब से स्थानीय कानूनों की अलग-अलग व्याख्या कर देते थे। इस भिन्नता को खत्म करके समरूपता लाने के लिए 1775 में 11 पंडितों को भारतीय कानूनों का एक संकलन तैयार करने का काम सौंपा गया। एन. बी. हालहेड ने इस संकलन का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया। 1778 तक यूरोपीय न्यायाधीशों के लिए मुसलिम कानूनों की भी एक संहिता तैयार कर ली गई थी। 1773 के रेग्युलेटिंग ऐक्ट के तहत एक नए सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई। इसके अलावा कलकत्ता में अपीलीय अदालत – सदर निज़ामत अदालत – की भी स्थापना की गई।

भारतीय जिले में कलेक्टर सबसे बड़ा ओहदा होता था। जैसा कि नाम से ही पता चलता है, उसका मुख्य काम लगान और कर इकट्ठा करना तथा न्यायाधीशों, पुलिस अधिकारियों व दारोगा की सहायता से ज़िले में कानून-व्यवस्था बनाए रखना होता था। उसका कार्यालय – कलेक्टरेट – सत्ता और संरक्षण का नया केंद्र बन गया था जिसने पुराने सत्ता केंद्रों को हाशिये पर ढकेल दिया।

कंपनी की फ़ौज

कंपनी के साथ भारत में शासन और सुधार के नए विचार तो आए लेकिन उसकी असली सत्ता सैनिक ताकत में थी। मुग़ल फ़ौज मुख्य रूप से घुड़सवार (**सवार :** घोड़े पर चलने वाले प्रशिक्षित) और पैदल सेना थी। उन्हें तीरंदाजी और तलवारबाज़ी का प्रशिक्षण दिया जाता था। सेना में सवारों का दबदबा रहता था और मुग़ल साम्राज्य को एक विशाल पेशेवर प्रशिक्षण वाली पैदल सेना की ज़रूरत महसूस नहीं होती थी। ग्रामीण इलाकों में सशस्त्र किसानों की बड़ी संख्या थी। स्थानीय ज़मींदार मुग़लों को ज़रूरत पड़ने पर पैदल सिपाही मुहैया कराते थे।

अठारहवीं सदी में जब अवध और बनारस जैसी रियासतों में किसानों को भर्ती करके उन्हें पेशेवर सैनिक प्रशिक्षण दिया जाने लगा तो यह सूरत बदलने लगी। ईस्ट इंडिया कंपनी ने जब अपनी सेना के लिए भर्ती शुरू की तो उसने भी यही तरीका अपनाया। अंग्रेज़ अपनी सेना को सिपॉय (जो भारतीय शब्द 'सिपाही' से ही बना है) आर्मी कहते थे।

1820 के दशक से जैसे-जैसे युद्ध तकनीक बदलने लगी कंपनी की सेना में घुड़सवार टुकड़ियों की ज़रूरत कम होती गई। इसकी वजह यह थी कि ब्रिटिश साम्राज्य बर्मा, अफगानिस्तान और मिस्र में भी लड़ रहा था जहाँ सिपाही **मस्केट** (तोड़ेदार बंदूक) और **मैचलॉक** से लैस होते थे। कंपनी की सेना के सिपाहियों को बदलती सैनिक आवश्यकताओं का ध्यान रखना पड़ता था और अब उसकी पैदल टुकड़ी ज़्यादा महत्वपूर्ण होती जा रही थी।

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में अंग्रेज़ एक समरूप सैनिक संस्कृति विकसित करने लगे थे। सिपाहियों को यूरोपीय ढंग का प्रशिक्षण, अभ्यास और अनुशासन सिखाया जाने लगा। अब उनका जीवन पहले से भी ज़्यादा

चित्र 13 – कंपनी के लिए काम करने वाला बंगाल का एक सवार, एक अज्ञात भारतीय चित्रकार द्वारा बनाया गया चित्र, 1780.

मराठों और मैसूर के साथ हुए युद्धों के बाद कंपनी को अपनी घुड़सवार टुकड़ियों को मज़बूत करने की अहमियत समझ में आने लगी थी।

नियंत्रित था। इस कोशिश में कभी–कभी समस्याएँ भी आ जाती थीं क्योंकि पेशेवर सिपाहियों की सेना खड़ा करने के चक्कर में अंग्रेज़ कई बार जाति और समुदाय की भावनाओं को नज़रअंदाज़ कर देते थे। भला लोग अपनी जातीय और धार्मिक भावनाओं को इतनी आसानी से कैसे छोड़ सकते थे? क्या वे खुद को अपने समुदाय का सदस्य मानने की बजाय सिर्फ़ सिपाही मान सकते थे?

सिपाही क्या महसूस करते थे? अपने जीवन और अपनी पहचान, यानी वे कौन हैं, इस बात के अहसास में जो बदलाव आ रहे थे उनको सिपाहियों ने किस तरह देखा? 1857 का विद्रोह हमें सिपाहियों की इस दुनिया की झलक दिखाता है। इस विद्रोह के बारे में आप अध्याय 5 में पढ़ेंगे।

निष्कर्ष

ईस्ट इंडिया कंपनी एक व्यापारिक कंपनी से बढ़ते–बढ़ते एक भौगोलिक औपनिवेशिक शक्ति बन गई। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में नयी भाप तकनीक के आने से यह प्रक्रिया और तेज़ हुई। तब तक समुद्र मार्ग से भारत पहुँचने में 6–8 माह का समय लग जाता था। भाप से चलने वाले जहाज़ों ने यह यात्रा तीन हफ़्तों में समेट दी। इसके बाद तो ज़्यादा से ज़्यादा अंग्रेज़ और उनके परिवार भारत जैसे दूर देश में आने लगे।

1857 तक भारतीय उपमहाद्वीप के 63 प्रतिशत भूभाग और 78 प्रतिशत आबादी पर कंपनी का सीधा शासन स्थापित हो चुका था। देश के शेष भूभाग और आबादी पर कंपनी का अप्रत्यक्ष प्रभाव था। इस प्रकार, व्यावहारिक स्तर पर ईस्ट इंडिया कंपनी पूरे भारत को अपने नियंत्रण में ले चुकी थी।

अन्यत्र

दक्षिण अफ्रीका में दास व्यापार

डच व्यापारी सत्रहवीं सदी में दक्षिण अफ्रीका पहुँचे। जल्द ही दास व्यापार शुरू हो गया। लोगों को बंधक बनाकर जंजीरों में बाँधकर दास बाज़ारों में बेचा जाने लगा। 1834 में दास प्रथा के अन्त के समय अफ्रीका के दक्षिणी सिरे पर स्थित केप में निजी स्वामित्व में दासों की संख्या 36,774 थी।

1824 में केप आने वाले एक यात्री ने वहाँ होने वाली नीलामी का आँखों देखा ब्योरा प्रस्तुत किया है–

> "यह मालूम होने पर कि पशुओं, कृषि उत्पादों की नीलामी होने वाली है... हमने अपनी गाड़ी नए बैल खरीदने के लिए रोक ली। नीलामी के माल में एक स्त्री–दास और उसके तीन बच्चे थे। किसानों ने पशुओं के समान ही उन्हें परखा। उन्हें अलग–अलग खरीदारों को बेच दिया गया। माँ ने चिन्ता, वेदना और आँसू भरी आँखों से बच्चों की तरफ देखा। दुखी बच्चे व्याकुल माँ–बाप से चिपक गये। यह दृश्य दिल को पिघलाने वाला था। इसके विपरीत मौजूद दर्शकों के चेहरे हँसते हुये एवं असंवेदनशील थे।

नाईजल वोर्डन द्वारा लिखित, द *चेनस देट बाइंड अस : ए हिस्ट्री ऑफ सलेवरी एट द केप*, 1996

आइए कल्पना करें

आप अठाहरवी सदी के आखिर या उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में इंग्लैंड में रह रहे हैं। ब्रिटिश विजय की कहानी पर आपकी क्या प्रतिक्रिया होगी? याद रखिए कि आप वहाँ जाने वाले बहुत सारे अफ़सरों की बेहिसाब कमाई के बारे में जान चुके हैं।

फिर से याद करें

1. निम्नलिखित के जोड़े बनाएँ

दीवानी	टीपू सुल्तान
"शेर–ए–मैसूर"	भूराजस्व वसूल करने का अधिकार
फ़ौजीदारी अदालत	सिपॉय
रानी चेन्नम्मा	भारत का पहला गवर्नर–जनरल
सिपाही	फ़ौजदारी अदालत
वॉरेन हेस्टिंग्स	कित्तूर में अंग्रेज़–विरोधी आंदोलन का नेतृत्व किया

2. रिक्त स्थान भरें

(क) बंगाल पर अंग्रेज़ों की जीत .... की जंग से शुरू हुई थी।

(ख) हैदर अली और टीपू सुल्तान .... के शासक थे।

© NCERT not to be republished

(ग) डलहौज़ी ने .... का सिद्धांत लागू किया।

(घ) मराठा रियासतें मुख्य रूप से भारत के .... भाग में स्थित थीं।

3. सही या गलत बताएँ :

(क) मुग़ल साम्राज्य अठारहवीं सदी में मज़बूत होता गया।

(ख) इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी भारत के साथ व्यापार करने वाली एकमात्र यूरोपीय कंपनी थी।

(ग) महाराजा रणजीत सिंह पंजाब के राजा थे।

(घ) अंग्रेज़ों ने अपने कब्ज़े वाले इलाकों में कोई शासकीय बदलाव नहीं किए।

आइए विचार करें

4. यूरोपीय व्यापारिक कंपनियाँ भारत की तरफ क्यों आकर्षित हो रही थीं?

5. बंगाल के नवाबों और ईस्ट इंडिया कंपनी के बीच किन बातों पर विवाद थे?

6. दीवानी मिलने से ईस्ट इंडिया कंपनी को किस तरह फायदा पहुँचा?

7. ईस्ट इंडिया कंपनी टीपू सुल्तान को खतरा क्यों मानती थी?

8. "सब्सिडियरी एलायंस" (सहायक संधि) व्यवस्था की व्याख्या करें।

9. कंपनी का शासन भारतीय राजाओं के शासन से किस तरह अलग था?

10. कंपनी की सेना की संरचना में आए बदलावों का वर्णन करें।

आइए करके देखें

11. बंगाल में अंग्रेज़ों की जीत के बाद कलकत्ता एक छोटे से गाँव से बड़े शहर में तब्दील हो गया। औपनिवेशिक काल के दौरान शहर के यूरोपीय और भारतीय निवासियों की संस्कृति, शिल्प और जीवन के बारे में पता लगाएँ।

12. निम्नलिखित में से किसी के बारे में तसवीरें, कहानियाँ, कविताएँ और जानकारियाँ इकट्ठा करें – झाँसी की रानी, महादजी सिंधिया, हैदर अली, महाराजा रणजीत सिंह, लॉर्ड डलहौज़ी या आपके इलाके का कोई पुराना शासक।

© NCERT not to be republished

3 ग्रामीण क्षेत्र पर शासन चलाना

0865CH03

चित्र 1 – 1765 में रॉबर्ट क्लाइव मुग़ल बादशाह से बिहार और उड़ीसा की दीवानी ग्रहण करते हुए

कंपनी दीवान बन गई

12 अगस्त 1765 को मुग़ल बादशाह ने ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल का दीवान तैनात किया। इस बात की पूरी संभावना है कि यह घटना मुट्ठी भर अंग्रेज़ों और हिंदुस्तानियों की मौजूदगी में रॉबर्ट क्लाइव के तंबू में घटी होगी। लेकिन ऊपर दिए गए चित्र में इस घटना को एक भव्य समारोह के रूप में दिखाया गया है। यह चित्र उस चित्रकार ने बनाया है जिसे रॉबर्ट क्लाइव ने अपने जीवन की यादगार घटनाओं को चित्रित करने का ज़िम्मा सौंपा था। बंगाल की दीवानी हाथ आ जाना अंग्रेज़ों के लिए निश्चय ही एक बड़ी घटना थी।

दीवान के तौर पर कंपनी अपने नियंत्रण वाले भूभाग के आर्थिक मामलों की मुख्य शासक बन गई थी। अब उसे अपनी ज़मीन का शासन चलाने और आमदनी को व्यवस्थित करने का रास्ता ढूँढ़ना था। इसके लिए उसे एक ऐसा रास्ता ढूँढ़ना था जिससे कंपनी के बढ़ते खर्चों को पूरा करने के लिए काफी आमदनी जुटाई जा सके। व्यापारिक कंपनी के नाते उसे यह खयाल भी रखना था कि वह अपनी ज़रूरत की चीज़ें ख़रीदती–बेचती रहे।

not to be

समय के साथ कंपनी को यह भी समझ में आने लगा कि उसे सावधानी के साथ आगे बढ़ना होगा। बाहरी ताकत होने की वजह से उसे उन लोगों को भी शांत रखना था जो गाँव-देहात में पहले शासन चला चुके थे और जिनके पास अभी भी काफी ताकत और सम्मान था। ऐसे जो लोग स्थानीय सत्ता में रह चुके थे उन्हें नियंत्रित करना तो ज़रूरी था लेकिन उन्हें खत्म नहीं किया जा सकता था।

यह काम कैसे हो? इस अध्याय में हम देखेंगे कि कंपनी ने ग्रामीण इलाकों को उपनिवेश कैसे बनाया, आय के संसाधन कैसे जुटाए, लोगों के अधिकार किस तरह तय किए और मनमाफ़िक फ़सलों की खेती कैसे करायी?

कंपनी की आमदनी

कंपनी दीवान तो बन गई थी लेकिन अभी भी खुद को एक व्यापारी ही मानती थी। कंपनी भारी-भरकम लगान तो चाहती थी लेकिन उसके आकलन और वसूली की कोई नियमित व्यवस्था करने में हिचकिचा रही थी। उसकी कोशिश यही थी कि वह ज़्यादा से ज़्यादा राजस्व हासिल करे और कम से कम कीमत पर बढ़िया सूती और रेशमी कपड़ा ख़रीदे। इसी कारण, पाँच साल के भीतर बंगाल में कंपनी द्वारा ख़रीदी जाने वाली चीज़ों का कुल मूल्य दोगुना हो चुका था। 1865 से पहले कंपनी ब्रिटेन से सोने और चाँदी का आयात करती थी और इन चीज़ों के बदले सामान ख़रीदती थी। अब बंगाल में इकट्ठा होने वाले पैसे से ही निर्यात के लिए चीज़ें ख़रीदी जा सकती थीं।

जल्दी ही यह ज़ाहिर हो गया कि बंगाल की अर्थव्यवस्था एक गहरे संकट में फँसती जा रही है। कारीगर गाँव छोड़कर भाग रहे थे क्योंकि उन्हें बहुत कम कीमत पर अपनी चीज़ें कंपनी को जबरन बेचनी पड़ती थीं। किसान अपना लगान नहीं चुका पा रहे थे। कारीगरों का उत्पादन गिर रहा था और खेती चौपट होने की दिशा में बढ़

चित्र 2 *– बंगाल स्थित मुर्शिदाबाद का एक साप्ताहिक हाट।*

ग्रामीण इलाकों के किसान और कारीगर अपनी चीज़ें बेचने और ज़रूरत की चीज़ें ख़रीदने के लिए नियमित रूप से बाज़ारों में आते थे। आर्थिक संकट के समय इन बाज़ारों पर बहुत बुरा असर पड़ता था।

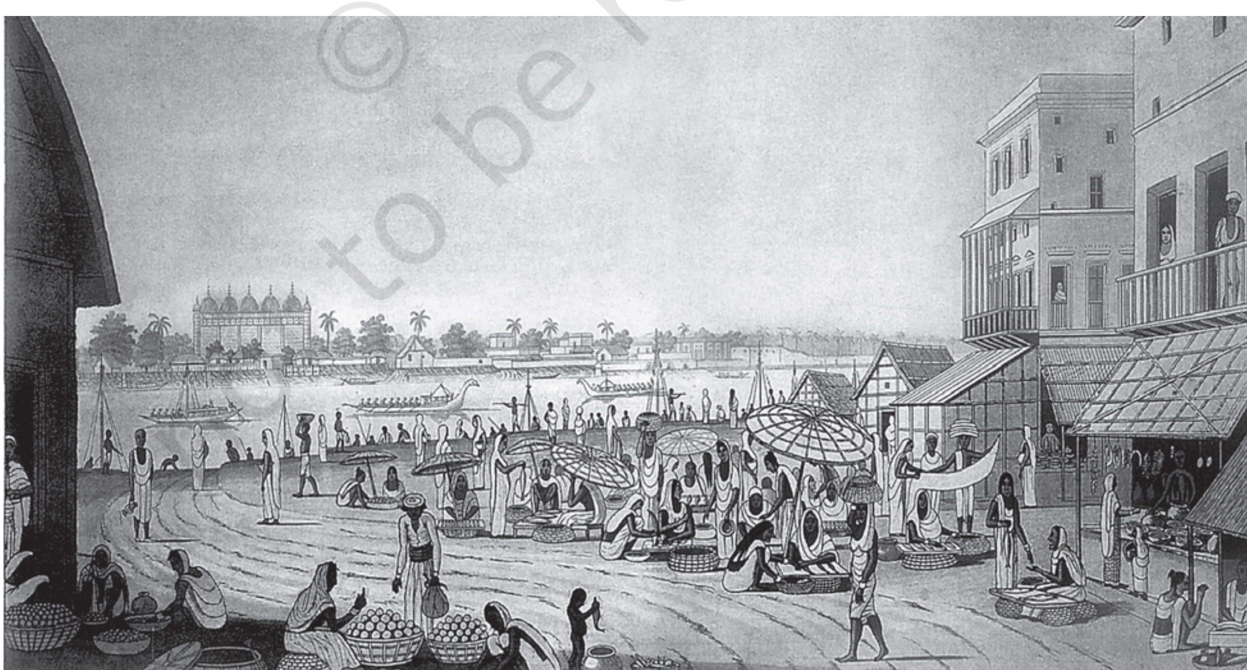

चित्र 3 – चार्ल्स कॉर्नवॉलिस।
जिस समय स्थायी बंदोबस्त लागू किया गया उस समय कॉर्नवालिस भारत का गवर्नर-जनरल था।

स्रोत 1

बंगाल के रैयतों पर कोलब्रुक का कथन

बंगाल के बहुत सारे गाँवों में कई ताकतवर रैयत खुद खेती नहीं करते थे। वे औरों को पट्टे पर ज़मीन दे देते थे और उनसे भारी लगान वसूल करते थे। 1860 में एच.टी. कोलब्रुक ने इन काश्तकारों की स्थिति इन शब्दों में बयान की थी :

> बटाई की भारी शर्तों और मवेशियों, बीज, आजीविका व कर्ज़ों के बदले बेगारी से दबे ये काश्तकार खुद को कर्ज़ से कभी बाहर नहीं निकाल सकते। जब उन्हें जीने को भी पूरा नहीं मिलता तो ऐसे भयानक हालात में वे दिल लगाकर काम कैसे कर सकते हैं। न ही उन्हें अपनी हालत सुधरने की कोई उम्मीद दिखायी देती है।

रही थी। 1770 में पड़े अकाल ने बंगाल में एक करोड़ लोगों को मौत की नींद सुला दिया। इस अकाल में लगभग एक तिहाई आबादी समाप्त हो गई।

खेती में सुधार की ज़रूरत

अगर अर्थव्यवस्था संकट में थी तो क्या कंपनी अपनी राजस्व आय के बारे में आश्वस्त रह सकती थी? कंपनी के ज़्यादातर अफ़सरों को यह लगने लगा था कि ज़मीन में निवेश करना और खेती में सुधार लाना ज़रूरी है।

यह काम किस तरह किया जा सकता था? इस सवाल पर दो दशकों तक बहस चली। आखिरकार कंपनी ने 1793 में स्थायी बंदोबस्त लागू किया। इस बंदोबस्त की शर्तों के हिसाब से राजाओं और तालुकदारों को ज़मींदारों के रूप में मान्यता दी गई। उन्हें किसानों से लगान वसूलने और कंपनी को राजस्व चुकाने का ज़िम्मा सौंपा गया। उनकी ओर से चुकाई जाने वाली राशि स्थायी रूप से तय कर दी गई थी। इसका मतलब यह था कि भविष्य में कभी भी उसमें इज़ाफा नहीं किया जाना था। अंग्रेज़ों को लगता था कि इससे उन्हें नियमित रूप से राजस्व मिलता रहेगा और ज़मींदारों को ज़मीन में सुधार के लिए खर्च करने का प्रोत्साहन मिलेगा। उन्हें लगता था कि क्योंकि राज्य की ओर से राजस्व की माँग बढ़ने वाली नहीं थी इसलिए ज़मींदार बढ़ते उत्पादन से फायदे में रहेंगे।

समस्या

मगर स्थायी बंदोबस्त ने भी समस्या पैदा कर दी। कंपनी के अफ़सरों ने पाया कि अभी भी ज़मींदार ज़मीन में सुधार के लिए खर्चा नहीं कर रहे थे। असल में, कंपनी ने जो राजस्व तय किया था वह इतना ज़्यादा था कि उसको चुकाने में ज़मींदारों को भारी परेशानी हो रही थी। जो ज़मींदार राजस्व चुकाने में विफल हो जाता था उसकी ज़मींदारी छीन ली जाती थी। बहुत सारी ज़मींदारियों को कंपनी बाकायदा नीलाम कर चुकी थी।

उन्नीसवीं सदी के पहले दशक तक हालात बदल चुके थे। बाज़ार में कीमतें बढ़ीं और धीरे-धीरे खेती का विस्तार होने लगा। इससे ज़मींदारों की आमदनी में तो सुधार आया लेकिन कंपनी को कोई फायदा नहीं हुआ क्योंकि कंपनी तो हमेशा के लिए राजस्व तय कर चुकी थी। अब वह राजस्व में वृद्धि नहीं कर सकती थी।

लेकिन ज़मींदारों को अभी भी ज़मीन की बेहतरी में कोई दिलचस्पी नहीं थी। उनमें से कुछ तो बंदोबस्त के शुरुआती सालों में ही अपनी ज़मीन गँवा चुके थे। जो बचे रह गए थे अब उन्हें भी बिना परेशानी और निवेश का

गतिविधि

आपको ऐसा क्यों लगता है कि कोलब्रुक बंगाल के उप-पट्टेदारों की स्थिति पर इतने चिंतित हैं? पिछले पन्नों को पढ़कर संभावित कारण बताइए।

2019-2020

ख़तरा उठाए आमदनी की उम्मीद दिखाई दे रही थी। जब तक ज़मींदार किसानों को ज़मीन देकर उनसे लगान वसूल सकते थे उन्हें ज़मीन में सुधार की परवाह नहीं थी।

दूसरी तरफ़, गाँवों में किसानों को यह व्यवस्था बहुत दमनकारी दिखाई दी। किसान को जो लगान चुकाना था वह बहुत ज़्यादा था और ज़मीन पर उसका अधिकार सुरक्षित नहीं था। लगान चुकाने के लिए अकसर महाजन से कर्ज़ा लेना पड़ता था। अगर वह लगान नहीं चुका पाता था तो उसे पुश्तैनी ज़मीन से बेदखल कर दिया जाता था।

महल – ब्रिटिश राजस्व दस्तावेज़ों में महल एक राजस्व इकाई थी। यह एक गाँव या गाँवों का एक समूह होती थी।

एक नयी व्यवस्था

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में ही कंपनी के बहुत सारे अधिकारियों को इस बात का यकीन हो चुका था कि राजस्व बंदोबस्त में दोबारा बदलाव लाना ज़रूरी है। जब कंपनी को शासन और व्यापार के अपने खर्चे चलाने के लिए और पैसे की ज़रूरत हो तो वह स्थायी रूप से राजस्व तय करके काम कैसे चला सकती है?

बंगाल प्रेज़िडेंसी के उत्तर-पश्चिमी प्रांतों (इस इलाके का ज़्यादातर हिस्सा अब उत्तर प्रदेश में है) के लिए होल्ट मैकेंजी नामक अंग्रेज़ ने एक नयी व्यवस्था तैयार की जिसे 1822 में लागू किया गया। मैकेंजी को विश्वास था कि उत्तर भारतीय समाज में गाँव एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है और उसको बचाए रखना चाहिए। उसके आदेश पर कलेक्टरों ने गाँव-गाँव का दौरा किया, ज़मीन की जाँच की, खेतों को मापा और विभिन्न समूहों के रीति-रिवाजों को दर्ज किया। गाँव के एक-एक खेत के अनुमानित राजस्व को जोड़कर हर गाँव या ग्राम समूह (**महाल**) से वसूल होने वाले राजस्व का हिसाब लगाया जाता था। इस राजस्व को स्थायी रूप से तय नहीं किया गया बल्कि उसमें समय-समय पर संशोधनों की गुंजाइश रखी गई। राजस्व इकट्ठा करने और उसे कंपनी को अदा करने का ज़िम्मा ज़मींदार की बजाय गाँव के मुखिया को सौंप दिया गया। इस व्यवस्था को *महालवारी* बंदोबस्त का नाम दिया गया।

चित्र 4 – मद्रास का गवर्नर टॉमस मुनरो (1819-26)।

मुनरो व्यवस्था

ब्रिटिश नियंत्रण वाले दक्षिण भारतीय इलाकों में भी स्थायी बंदोबस्त की जगह नयी व्यवस्था अपनाने का प्रयास किया जाने लगा। वहाँ जो नयी व्यवस्था विकसित हुई उसे *रैयतवार* (या रैयतवारी) का नाम दिया गया। कैप्टन एलेक्ज़ेंडर रीड ने टीपू सुल्तान के साथ चले युद्धों के बाद कंपनियों द्वारा कब्ज़े में लिए गए कुछ इलाकों में इस व्यवस्था को आज़मा कर भी देख लिया था। टॉमस मुनरो ने इस व्यवस्था को विकसित किया और धीरे-धीरे पूरे दक्षिणी भारत पर यही व्यवस्था लागू कर दी गई।

रीड और मुनरो को लगता था कि दक्षिण में परंपरागत ज़मींदार नहीं थे। इसलिए उनका तर्क यह था कि उन्हें सीधे किसानों (रैयतों) से ही बंदोबस्त करना चाहिए जो पीढ़ियों से ज़मीन पर खेती करते आ रहे हैं। राजस्व

2019-2020

गतिविधि

कल्पना कीजिए कि आप कंपनी के प्रतिनिधि की हैसियत से कंपनी शासन के अंतर्गत ग्रामीण इलाकों की दशा पर एक रिपोर्ट इंग्लैंड भेज रहे हैं। रिपोर्ट में आप क्या लिखेंगे?

आकलन से पहले उनके खेतों का सावधानीपूर्वक और अलग से सर्वेक्षण किया जाना चाहिए। मुनरो का मानना था कि अंग्रेज़ों को पिता की भाँति किसानों की रक्षा करनी चाहिए।

सब कुछ ठीक नहीं था

नयी व्यवस्थाएँ लागू होने के बाद महज़ कुछ साल के भीतर उनमें समस्याएँ दिखाई देने लगीं। ज़मीन से होने वाली आमदनी बढ़ाने के चक्कर में राजस्व अधिकारियों ने बहुत ज़्यादा राजस्व तय कर दिया था। किसान राजस्व चुका नहीं पा रहे थे। रैयत गाँवों से भाग रहे थे। बहुत सारे क्षेत्रों में गाँव वीरान हो गए थे। आशावादी अफ़सरों को उम्मीद थी कि नयी व्यवस्था किसानों को संपन्न उद्यमशील किसान बना देगी। लेकिन ऐसा हुआ नहीं।

यूरोप के लिए फ़सलें

अंग्रेज़ों ने यह भी महसूस किया कि ग्रामीण इलाके न केवल राजस्व प्रदान कर सकते हैं बल्कि वहाँ यूरोप की ज़रूरतों के हिसाब से सही फ़सलें भी पैदा की जा सकती हैं। अठाहरवीं सदी के आखिर तक कंपनी ने अफ़ीम और नील की खेती पर पूरा ज़ोर लगा दिया था। इसके बाद लगभग 150 साल तक अंग्रेज़ देश के विभिन्न भागों में किसी न किसी फ़सल के लिए किसानों को मजबूर करते रहे : बंगाल में पटसन, असम में चाय, संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में गन्ना, पंजाब में गेहूँ, महाराष्ट्र व पंजाब में कपास, मद्रास में चावल।

यह कैसे किया गया? अंग्रेज़ों ने अपनी ज़रूरत की फ़सलों की खेती को फैलाने के लिए कई तरीके अपनाए। आइए इसी तरह की एक फ़सल, उत्पादन की ऐसी ही एक पद्धति को अच्छी तरह समझें।

चित्र 5 – एक क़लमकारी छापा, बीसवीं सदी, भारत।

चित्र 6 – मॉरिस कॉटन छापा, उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्ध, इंग्लैंड।

क्या रंग का भी कोई इतिहास है?

चित्र 5 और 6 में सूती कपड़े के छापों की दो तसवीरें दी गई हैं। बाईं तरफ (चित्र 5) की तसवीर में भारत में आंध्र प्रदेश के बुनकरों द्वारा बनाए गए कलमकारी छापे दिखाई दे रहे हैं। दूसरी तरफ ब्रिटेन के प्रसिद्ध कवि और कलाकार विलियम मॉरिस द्वारा बनाए गए फूल वाले छापे हैं। दोनों छापों में एक बात समान है : दोनों में ही गहरे नीले रंग का

इस्तेमाल किया गया है। इसे आमतौर पर नील कहा जाता है। क्या आप जानते हैं कि यह रंग किस तरह पैदा किया गया?

इन छापों में आपको जो नीला रंग दिखाई दे रहा है वह नील नाम के एक पौधे से निकाला जाता था। इस बात की काफ़ी संभावना है कि उन्नीसवीं सदी के ब्रिटेन में मॉरिस के छापों में इस्तेमाल किया गया नीला रंग भारत में उगने वाले नील के पौधों से ही तैयार किया गया होगा। उस समय भारत दुनिया में नील का सबसे बड़ा स्रोत था।

भारतीय नील की माँग क्यों थी?

नील का पौधा मुख्य रूप से उष्णकटिबंधीय इलाकों में ही उगता है। तेरहवीं सदी तक इटली, फ्रांस और ब्रिटेन के कपड़ा उत्पादक कपड़े की रँगाई के लिए भारतीय नील का इस्तेमाल कर रहे थे।

उस समय भारतीय नील की बहुत थोड़ी मात्रा ही यूरोपीय बाज़ारों में पहुँचती थी। उसकी कीमत भी बहुत ऊँची रहती थी। इसीलिए यूरोपीय कपड़ा उत्पादकों को बैंगनी और नीले रंग बनाने के लिए वोड नामक एक और पौधे पर निर्भर रहना पड़ता था। वोड पौधा शीतोष्ण क्षेत्र में उगता था इसलिए यूरोप में आसानी से मिल जाता था। उत्तरी इटली, दक्षिणी फ्रांस व जर्मनी और ब्रिटेन के कई हिस्सों में यह पौधा उगता था। नील के साथ प्रतिस्पर्धा से परेशान यूरोप के वोड उत्पादकों ने अपनी सरकारों पर दबाव डाला कि वे नील के आयात पर पाबंदी लगा दें।

मगर कपड़े को रँगने वाले तो नील को ही पसंद करते थे। नील से बहुत चमकदार नीला रंग मिलता था जबकि वोड से मिलने वाला रंग बेजान और फीका होता था। सत्रहवीं सदी तक आते-आते यूरोपीय कपड़ा उत्पादकों ने नील के आयात पर लगी पाबंदी में ढील देने के लिए अपनी सरकारों को राज़ी कर लिया। कैरीबियाई द्वीप समूह स्थित सेंट डॉमिंग्यू में फ्रांसीसी, ब्राज़ील में पुर्तगाली, जमैका में ब्रिटिश और वेनेज़ुएला में स्पैनिश लोग नील की खेती करने लगे। उत्तरी अमेरिका के भी बहुत सारे भागों में नील के **बाग़ान** सामने आ गए थे।

बाग़ान – एक विशाल खेत जिस पर बाग़ान मालिक बहुत सारे लोगों से जबरन काम करवाता था। कॉफ़ी, गन्ना, तंबाकू, चाय और कपास आदि के विषय में बाग़ानों का ज़िक्र किया जाता है।

अठारहवीं शताब्दी के आखिर तक भारतीय नील की माँग और बढ़ गई। ब्रिटेन में औद्योगीकरण का युग शुरू हो चुका था और उसके कपास उत्पादन में भारी इज़ाफ़ा हुआ। अब कपड़ों की रँगाई की माँग और तेज़ी से बढ़ने लगी। जब नील की माँग बढ़ी उसी दौरान वेस्टइंडीज़ और अमेरिका से मिलने वाली आपूर्ति अनेक कारणों से बंद हो गई। 1783 से 1789 के बीच दुनिया का नील उत्पादन आधा रह गया था। ब्रिटेन के रँगरेज़ अब नील की आपूर्ति के लिए बैचेनी से किसी और स्रोत की तलाश कर रहे थे।

यह नील कहाँ से मिल सकता था?

भारत में ब्रिटेन की बढ़ती दिलचस्पी

यूरोप में नील की बढ़ती माँग को देखते हुए ईस्ट इंडिया कंपनी भी भारत में नील की खेती बढ़ाने के रास्ते ढूँढ़ने लगी।

2019-2020

© NCERT not to be republished

चित्र 7 – सेंट डॉमिंग्यू में गुलामों की बगावत, अगस्त 1791, जनवरी स्कुहदोल्स्की का चित्र।

अठाहरवीं सदी में फ़्रांसीसी बाग़ान मालिकों ने कैरीबियाई द्वीप समूह में स्थित फ़्रांसीसी उपनिवेश सेंट डॉमिंग्यू में नील और चीनी का उत्पादन शुरू किया। इन बाग़ानों में काम करने वाले अफ़्रीकी **गुलाम** 1791 में बगावत पर उतर आए। उन्होंने बाग़ान जला दिए और अपने धनी मालिकों को मार डाला। 1792 में फ़्रांस ने अपने उपनिवेशों में दास प्रथा समाप्त कर दी। इन घटनाओं की वजह से कैरीबियाई द्वीपों में नील की खेती ठप्प हो गई।

गुलाम – ऐसा व्यक्ति जो किसी दास-स्वामी की संपत्ति होता है। गुलाम के पास कोई आज़ादी नहीं होती, उसे अपने मालिक के लिए काम करना होता है।

अठाहरवीं सदी के आखिरी दशकों से ही बंगाल में नील की खेती तेज़ी से फैलने लगी थी। बंगाल में पैदा होने वाला नील दुनिया के बाज़ारों पर छा गया था। 1788 में ब्रिटेन द्वारा आयात किए गए नील में भारतीय नील का हिस्सा केवल लगभग 30 प्रतिशत था। 1810 में ब्रिटेन द्वारा आयात किए गए नील में भारतीय नील का हिस्सा 95 प्रतिशत हो चुका था।

जैसे-जैसे नील का व्यापार फैला, कंपनी के अफ़सर और व्यावसायिक एजेंट नील के उत्पादन में पैसा लगाने लगे। समय बीतने के साथ कंपनी के बहुत सारे अधिकारियों ने नील के अपने कारोबार पर ध्यान देने के लिए अपनी नौकरियाँ छोड़ दीं। भारी मुनाफ़े की उम्मीद में स्कॉटलैंड और इंग्लैंड के बहुत सारे लोग भारत आए और उन्होंने नील के बाग़ान लगा लिए। जिनके पास नील की पैदावार के लिए पैसा नहीं था उन्हें कंपनी और नए-नए बैंक कर्ज़ा देने को तैयार रहते थे।

नील की खेती कैसे होती थी?

नील की खेती के दो मुख्य तरीके थे – *निज* और *रैयती*। *निज* खेती की व्यवस्था में बाग़ान मालिक खुद अपनी ज़मीन में नील का उत्पादन करते थे। या तो वह ज़मीन ख़रीद लेते थे या दूसरे ज़मींदारों से ज़मीन भाड़े पर ले लेते थे और मज़दूरों को काम पर लगाकर नील की खेती करवाते थे।

निज खेती की समस्याएँ

बाग़ान मालिकों को *निज* खेती का क्षेत्रफल फैलाने में मुश्किल आ रही थी। नील की खेती केवल उपजाऊ ज़मीन पर की जा सकती थी। ऐसी ज़मीनों पर आबादी पहले ही बहुत ज़्यादा थी। यहाँ-वहाँ छोटे-मोटे खेत ही उनके हाथ लग पाते थे। नील की खेती करने के लिए उन्हें बड़े-बड़े भूखण्डों की ज़रूरत थी। इस तरह की ज़मीनें उन्हें कहाँ से मिल सकती थीं? उन्होंने नील की फैक्ट्री के इर्द-गिर्द पट्टे पर ज़मीन लेने के प्रयास किए और वहाँ के किसानों को हटवा दिया। इससे टकराव और तनाव पैदा हो जाता था।

मज़दूरों का इंतज़ाम करना भी आसान नहीं था। बड़े बाग़ान के लिए बहुत सारे मज़दूरों की ज़रूरत होती थी। मज़दूरों की ज़रूरत भी सबसे ज़्यादा उसी समय होती थी जब किसान धान की खेती में व्यस्त रहते थे।

बड़े पैमाने पर *निज* खेती के लिए बहुत सारे हल-बैलों की भी ज़रूरत

थी। एक बीघा नील की खेती के लिए दो हल चाहिए होते थे। इसका मतलब यह था कि अगर किसी बाग़ान मालिक के पास एक हज़ार **बीघा** ज़मीन है तो उसे दो हज़ार हलों की ज़रूरत पड़ती। हलों को ख़रीदना और उनका रखरखाव एक बड़ी समस्या थी। किसानों से भी हल नहीं मिल सकते थे। उन्हें अपने लिए ही इन चीज़ों की ज़रूरत होती थी। जिस समय नील उत्पादकों को ज़रूरत होती थी उसी समय किसानों के हल–बैल भी चावल के खेतों में व्यस्त रहते थे।

बीघा – ज़मीन की एक माप। ब्रिटिश शासन से पहले बीघे का आकार अलग–अलग होता था। बंगाल में अंग्रेज़ों ने इसका क्षेत्रफल करीब एक तिहाई एकड़ तय कर दिया था।

उन्नीसवीं सदी के आखिर तक बाग़ान मालिक *निज* खेती का क्षेत्रफल फैलाने में हिचकिचाते थे। इस व्यवस्था के तहत नील की पैदावार वाली 25 प्रतिशत से भी कम ज़मीन आती थी। बाकी ज़मीन *रैयती* व्यवस्था के अंतर्गत थी।

रैयतों की ज़मीन पर नील की खेती

रैयती व्यवस्था के तहत बाग़ान मालिक *रैयतों* के साथ एक अनुबंध (सट्टा) करते थे। कई बार वे गाँव के मुखियाओं को भी *रैयतों* की तरफ से समझौता करने के लिए बाध्य कर देते थे। जो अनुबंध पर दस्तखत कर देते थे उन्हें नील उगाने के लिए कम ब्याज दर पर बाग़ान मालिकों से नक़द कर्ज़ा मिल जाता था। कर्ज़ा लेने वाले *रैयत* को अपनी कम से कम 25 प्रतिशत ज़मीन पर नील की खेती करनी होती थी। बाग़ान मालिक बीज और उपकरण मुहैया कराते थे जबकि मिट्टी को तैयार करने, बीज बोने और फ़सल की देखभाल करने का ज़िम्मा काश्तकारों के ऊपर रहता था।

जब कटाई के बाद फ़सल बाग़ान मालिक को सौंप दी जाती थी तो *रैयत* को नया कर्ज़ा मिल जाता था और वही चक्र दोबारा

चित्र 8 – उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में बंगाल के मज़दूर नील की खेती करते हुए।

भारत में नील के पौधों की कटाई अधिकांशतः पुरुष ही करते थे।

चित्र 9 – खेतों से फ़ैक्ट्री में लाए जा रहे नील के पौधों के गठ्ठर।

नील का उत्पादन कैसे होता था?

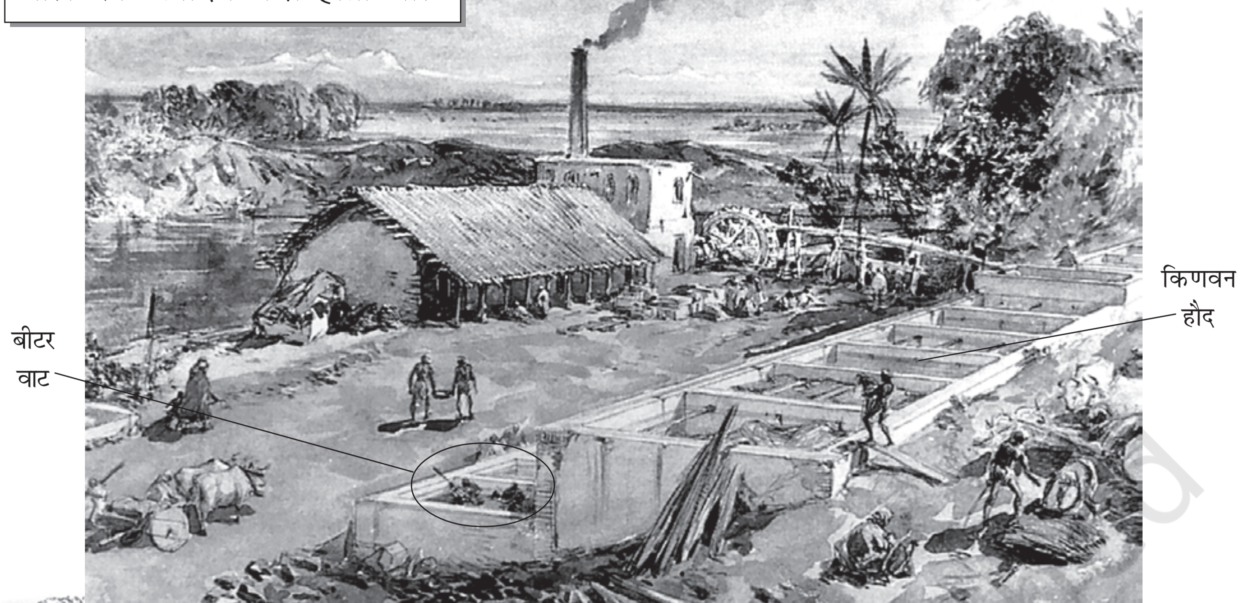

चित्र 10 – नील के खेतों के पास स्थित नील का एक कारखाना, विलियम सिंप्सन का चित्र, 1863.

नील गाँव आमतौर पर बाग़ान मालिकों की फैक्ट्रियों के आस-पास ही होते थे। कटाई के बाद नील के पौधों को कारखाने में स्थित **वैटस** (हौद) में पहुँचा दिया जाता था। रंग बनाने के लिए 3 या 4 कुंडों की ज़रूरत पड़ती थी। प्रत्येक हौद का अलग काम था। नील के पौधों से पत्तियों को तोड़कर पहले एक कुंड में गर्म पानी में कई घंटों तक डुबोया जाता था (इस हौद को किणवन या स्टीपर कुंड कहा जाता था)। जब पौधे किणवित हो जाते थे तो द्रव्य में बुलबुले उठने लगते थे। अब सड़ी हुई पत्तियों को निकाल दिया जाता था और द्रव्य को एक और हौद में छान दिया जाता था। दूसरा हौद पहले हौद के ठीक नीचे होता था।

दूसरे हौद (बीटर वाट) में इस घोल को लगातार हिलाया जाता था और पैडलों से खंगाला जाता था। जब यह द्रव्य हरा और उसके बाद नीला हो जाता था तो हौद में चूने का पानी डाला जाता था। धीरे-धीरे नील की पपड़ियाँ नीचे जम जाती थीं और ऊपर साफ द्रव्य निकल आता था। द्रव्य को छानकर अलग कर लिया जाता था और नीचे जमी नील की गाद – नील की लुगदी – को दूसरे कुंड (निथारन कुंड) में डाल दिया जाता था। इसके बाद उसे निचोड़कर बिक्री के लिए सुखा दिया जाता था।

***चित्र 11** – नील के पौधों को हौद तक औरतें ही ढोकर लाती थीं।*

***चित्र 12** – हौद में घोल हिलाने वाला*

यहाँ खड़ा नील मज़दूर हौद में पड़े घोल को हिलाने के लिए इस्तेमाल होने वाला पैडल लिए खड़ा है। इन मज़दूरों को 8 घंटे से भी ज़्यादा समय तक कमर तक भरे नील के घोल में खड़े रहना पड़ता था।

वाट – एक किणवन अथवा संग्रहण पात्र

***चित्र 13** – बिक्री के लिए नील तैयार है।*

यहाँ आप उत्पादन की आखिरी अवस्था को देख सकते हैं। दबाकर साँचों में डाल दी गई नील की लुगदी को काटकर मज़दूर उन पर मुहर लगा रहे हैं। पीछे वाले हिस्से में एक मज़दूर इन टुकड़ों को सुखाने के लिए ले जा रहा है।

2019-2020

शुरू हो जाता था। जो किसान पहले इन कर्ज़ों से बहुत आकर्षित थे उन्हें जल्दी ही समझ में आ गया कि यह व्यवस्था कितनी कठोर है। उन्हें नील की जो कीमत मिलती थी वह बहुत कम थी और कर्ज़ों का सिलसिला कभी खत्म ही नहीं होता था।

समस्याएँ और भी थीं। बाग़ान मालिक चाहते थे कि किसान अपने सबसे बढ़िया खेतों में ही नील की खेती करें। लेकिन नील के साथ परेशानी यह थी कि उसकी जड़ें बहुत गहरी होती थीं और वह मिट्टी की सारी ताकत खींच लेती थीं। नील की कटाई के बाद वहाँ धान की खेती नहीं की जा सकती थी।

"नील विद्रोह" और उसके बाद

मार्च 1859 में बंगाल के हज़ारों *रैयतों* ने नील की खेती से इनकार कर दिया। जैसे-जैसे विद्रोह फैला, *रैयतों* ने बाग़ान मालिकों को लगान चुकाने से भी इनकार कर दिया। वे तलवार, भाले और तीर-कमान लेकर नील की फैक्ट्रियों पर हमला करने लगे। औरतें अपने बर्तन लेकर लड़ाई में कूद पड़ीं। बाग़ान मालिकों के लिए काम करने वालों का सामाजिक बहिष्कार कर दिया गया। बाग़ान मालिकों की तरफ़ से लगान वसूली के लिए आने वाले गुमाश्ता – एजेंटों – की पिटाई की गई। *रैयतों* ने कसम खा ली कि न तो वे नील की खेती के लिए कर्ज़ा लेंगे और न ही बाग़ान मालिकों के लठियालों – लाठीधारी गुंडों – से डरेंगे।

नील के किसान चुप बैठने को तैयार नहीं थे। क्यों? उन्हें बग़ावत की ताकत कहाँ से मिली? इसमें कोई शक नहीं कि नील की खेती अत्यन्त दमनात्मक थी। लेकिन जो लोग दबे होते हैं वे हमेशा बगावत नहीं करते। ऐसा कभी-कभी ही होता है।

1859 में नील *रैयतों* को लगा कि बाग़ान मालिकों के ख़िलाफ़ बग़ावत में उन्हें स्थानीय ज़मींदारों और मुखियाओं का भी समर्थन मिल सकता है। बहुत सारे गाँवों में जिन मुखियाओं से नील के अनुबंधों पर जबरन दस्तखत कराए गए थे उन्होंने ही नील किसानों को इकट्ठा किया और लठियालों के साथ आमने-सामने की लड़ाई लड़ी। कई स्थानों पर *रैयतों* को बग़ावत के लिए उकसाते हुए खुद ज़मींदार गाँव-गाँव घूमने लगे। ज़मींदार इस बात से परेशान थे कि बाग़ान मालिकों की ताकत बढ़ती जा रही थी और बाग़ान मालिक जबरन लंबे समय के लिए उनसे ज़मीन ले लेते थे।

नील के किसानों को ये भी लग रहा था कि अंग्रेज़ी सरकार भी संघर्ष में उनका साथ देगी। 1857 की बग़ावत के बाद ब्रिटिश सरकार एक और व्यापक विद्रोह के ख़तरे से डरी हुई थी। जब नील की खेती वाले ज़िलों में एक और बग़ावत की ख़बर फैली तो लेफ़्टिनेंट गवर्नर ने 1859 की सर्दियों में इलाके का दौरा किया। *रैयतों* को लगा कि सरकार उनकी दुर्दशा से परेशान है। बरसात में मजिस्ट्रेट ऐशले ईडन ने एक नोटिस जारी किया जिसमें कहा गया था कि *रैयतों* को नील के अनुबंध मानने के लिए मजबूर नहीं किया

स्रोत 2

नील गाँवों का एक गीत

संघर्ष के क्षणों में लोग एक-दूसरे का उत्साह बढ़ाने और सामूहिकता का भाव पैदा करने के लिए अकसर गीत गाते हैं। इस तरह के गीतों से हमें उनकी भावनाओं का पता चलता है। नील विद्रोह के दौरान बंगाल के निचले इलाकों में ऐसे बहुत सारे गीत सुनाई देते थे। इनमें से एक गीत इस प्रकार था :

> मौला हाती के बाग़ान
> मालिक की लम्बी-लम्बी
> लाठियाँ दूर इकट्ठी पड़ी
> हैं।
>
> कोलकाता के बाबू इस
> बड़ी लड़ाई को देखने के
> लिए नावों के जरिये पहुँच
> चुके हैं।
>
> इस बार तो सभी *रैयत*
> तैयार हैं, वे चुपचाप मार
> नहीं सहेंगे।
>
> अब वे बिना लठियालों
> का मुकाबला किये अपनी
> जान नहीं गँवाएँगे।

© NCERT not to be republished

2019-2020

जाएगा। इस नोटिस के आधार पर लोगों में यह ख़बर फैल गई कि रानी विक्टोरिया ने नील की खेती न करने का हुक्म दे दिया है। ईडन किसानों को शांत करने और विस्फोटक स्थितियों को नियंत्रित करने की कोशिश कर रहे थे। उसकी कार्रवाई को किसानों ने अपने विद्रोह का समर्थन मान लिया।

जैसे-जैसे विद्रोह फैला, कलकत्ता के पढ़े-लिखे लोग भी नील ज़िलों की ओर चल पड़े। उन्होंने *रैयतों* की दुर्दशा, बाग़ान मालिकों की ज़ोर-ज़बर्दस्ती और अत्याचारी नील व्यवस्था के बारे में लिखा।

इस बग़ावत से परेशान सरकार को बाग़ान मालिकों की रक्षा के लिए सेना बुलानी पड़ी। नील उत्पादन व्यवस्था की जाँच करने के लिए एक नील आयोग भी बना दिया गया। इस आयोग ने बाग़ान मालिकों को दोषी पाया, ज़ोर-ज़बर्दस्ती के लिए उनकी आलोचना की। आयोग ने कहा कि नील की खेती *रैयतों* के लिए फायदे का सौदा नहीं है। आयोग ने *रैयतों* से कहा कि वे मौजूदा अनुबंधों को पूरा करें लेकिन आगे से वे चाहें तो नील की खेती बंद कर सकते हैं।

इस बगावत के बाद बाग़ानों में नील का उत्पादन धराशायी हो गया। इसके बाद बाग़ान मालिक बिहार पर ध्यान देने लगे। उन्नीसवीं सदी के आखिर में कृत्रिम रंगों का निर्माण होने लगा था। इससे उनका व्यवसाय भी बुरी तरह प्रभावित हुआ। फिर भी, वे उत्पादन फैलाने में सफल रहे। जब महात्मा गांधी दक्षिण अफ़्रीका से लौटे तो बिहार के एक किसान ने उन्हें चंपारण आकर नील किसानों की दुर्दशा को देखने का न्यौता दिया। 1917 में महात्मा गांधी का यह दौरा नील बाग़ान मालिकों के ख़िलाफ़ चंपारण आंदोलन की शुरुआत थी।

स्रोत 3

भीख माँग लूँगा परन्तु "नील नहीं उगाऊँगा"

चाँदपुर, थाना हरदी के एक नील काश्तकार हाजी मुल्ला से मंगलवार 5 जून 1860 को नील आयोग के सदस्यों ने बात की। हाजी मुल्ला ने कुछ सवालों के जवाब इस तरह दिए :

डब्ल्यू.एस. सीटन कार, नील आयोग के अध्यक्ष : क्या अब तुम नील की खेती के लिए तैयार हो? अगर नहीं, तो किस तरह की शर्तों पर खेती करना चाहोगे?

हाजी मुल्ला : मैं नील उगाने को तैयार नहीं हूँ। मुझे नहीं पता कि कोई भी नयी शर्तें मुझे संतुष्ट कर सकती हैं।

श्री साले : क्या तुम एक रुपया प्रति बंडल की कीमत पर भी खेती नहीं करना चाहते?

हाजी मुल्ला : नहीं, मैं नहीं करूँगा। नील उगाने की बजाय मैं कहीं और चला जाऊँगा। भीख माँग लूँगा परन्तु नील नहीं उगाऊँगा।

नील आयोग रिपोर्ट, खंड 2, सबूतनामा, पृ. 67

गतिविधि

कल्पना कीजिए कि आप नील आयोग के सामने गवाही दे रहे हैं। डब्ल्यू.एस. सीटन कार आपसे पूछते हैं : "*रैयत* किस सूरत में नील की खेती कर सकते हैं?" आपका जवाब क्या होगा?

अन्यत्र

वेस्टइंडीज़ में नील उत्पादन

अठारहवीं सदी की शुरुआत में एक फ़्रांसीसी मिशनरी जौं बेपतिस्त लबात ने कैरीबियाई द्वीपों का दौरा किया और इस इलाके के बारे में विस्तार से लिखा। यह तसवीर लबात की एक पुस्तक से ली गई है। इस तसवीर में यहाँ के फ़्रांसीसी बाग़ानों में नील उत्पादन के सारे चरणों को दर्शाया गया है। बाएँ सिरे पर आप देख सकते हैं कि गुलाम मज़दूर नील के पौधों को सेटलर वाट में डाल रहे हैं। एक और मज़दूर एक मशीनी चरखी से घोल को घुमा रहा है (दाएँ से दूसरा)। दो मज़दूर नील की लुगदी को बोरों में भरकर सुखाने के लिए ले जा रहे हैं। अगले हिस्से में दो मज़दूर नील की लुगदी को मिलाकर साँचों में डालने के लिए तैयार कर रहे हैं। तसवीर के बीचोंबीच बाग़ान मालिक ऊँची जगह खड़े होकर सारे गुलामों पर नज़र रख रहा है।

चित्र 14 – कैरिबियाई द्वीप समूह स्थित बाग़ानों में नील का उत्पादन।

फिर से याद करें

1. निम्नलिखित के जोड़े बनाएँ

रैयत	ग्राम-समूह
महाल	किसान
निज	*रैयतों* की ज़मीन पर खेती
रैयती	बाग़ान मालिकों की अपनी ज़मीन पर खेती

2. रिक्त स्थान भरें :

(क) यूरोप में वोड उत्पादकों को .... से अपनी आमदनी में गिरावट का ख़तरा दिखाई देता था।

(ख) अठारहवीं सदी के आखिर में ब्रिटेन में नील की माँग .... के कारण बढ़ने लगी।

2019-2020

© NCERT not to be republished

आइए कल्पना करें

एक किसान को नील की खेती के लिए मजबूर किया जा रहा है। बाग़ान मालिक और उस किसान के बीच बातचीत की कल्पना कीजिए। किसान को राज़ी करने के लिए बग़ान मालिक क्या कारण बताएगा? किसान किन समस्याओं का ज़िक्र करेगा? इस बातचीत को अभिनय के ज़रिए दिखाएँ।

(ग) .... की खोज से नील की अंतर्राष्ट्रीय माँग पर बुरा असर पड़ा।

(घ) चंपारण आंदोलन .... के ख़िलाफ़ था।

आइए विचार करें

3. स्थायी बंदोबस्त के मुख्य पहलुओं का वर्णन कीजिए।
4. महालवारी व्यवस्था स्थायी बंदोबस्त के मुकाबले कैसे अलग थी?
5. राजस्व निर्धारण की नयी मुनरो व्यवस्था के कारण पैदा हुई दो समस्याएँ बताइए।
6. *रैयत* नील की खेती से क्यों कतरा रहे थे?
7. किन परिस्थितियों में बंगाल में नील का उत्पादन धराशायी हो गया?

आइए करके देखें

8. चंपारण आंदोलन और उसमें महात्मा गांधी की भूमिका के बारे में और जानकारियाँ इकट्ठा करें।
9. भारत के शुरुआती चाय या कॉफी बाग़ानों का इतिहास देखें। ध्यान दें कि इन बाग़ानों में काम करने वाले मज़दूरों और नील के बाग़ानों में काम करने वाले मज़दूरों के जीवन में क्या समानताएँ या फर्क थे।

© NCERT not to be republished

4 आदिवासी, *दीकु* और एक स्वर्ण युग की कल्पना

0865CH04

1895 में बिरसा नाम के एक आदमी को झारखंड में छोटानागपुर के जंगलों और गाँवों में घूमते देखा गया। लोग कहते थे कि उसके पास चमत्कारी शक्तियाँ हैं – वह सारी बीमारियाँ दूर कर सकता था और अनाज की छोटी सी ढेरी को कई गुना बढ़ा देता था। बिरसा ने खुद यह ऐलान कर दिया था कि उसे भगवान ने लोगों की रक्षा और उनको *दीकुओं* (बाहरी लोगों) की गुलामी से आज़ाद कराने के लिए भेजा है। कुछ समय के भीतर हज़ारों लोग बिरसा के पीछे चलने लगे। वे उसे भगवान मानते थे। उन्हें यक़ीन था कि वह उनकी समस्याएँ दूर करने आया है।

बिरसा का जन्म एक मुंडा परिवार में हुआ था। मुंडा एक जनजातीय समूह है जो छोटानागपुर में रहता है। बिरसा के समर्थकों में इलाके के दूसरे आदिवासी – संथाल और उराँव – भी शामिल थे। ये सभी अपने आसपास आ रहे बदलावों और अंग्रेज़ शासन के कारण पैदा हो रही समस्याओं से बेचैन थे। उनकी परिचित जीवन पद्धति नष्ट होती दिखाई दे रही थी, आजीविका खतरे में थी और धर्म छिन्न-भिन्न हो रहा था।

चित्र 1 : उड़ीसा के डोंगरिया कंध क़बीले की महिलाएँ बाज़ार जाते हुए नदी से गुजर रही हैं।

बिरसा किन समस्याओं को हल करना चाहता था? जिन्हें *दीकु* कहा जा रहा था, वे बाहरी लोग कौन थे? उन्होंने इलाक़े के लोगों को गुलाम कैसे बना लिया था? अंग्रेज़ों के राज में आदिवासियों के साथ क्या हो रहा था? आदिवासियों का जीवन किस तरह बदल रहा था? इस अध्याय में हम ऐसे ही कुछ सवालों पर विचार करेंगे।

पिछले साल आपने आदिवासी समाजों के बारे में पढ़ा था। ज़्यादातर क़बीलों के रीति-रिवाज और रस्में ब्राह्मणों द्वारा निर्धारित रीति-रिवाजों और रस्मों से बहुत अलग थीं। इन समाजों में ऐसे गहरे सामाजिक भेद भी नहीं थे जो जाति पर आधारित समाजों में दिखाई देते हैं। एक क़बीले के सारे लोग कुटुम्ब के बँधनों में बँधे होते थे। लेकिन इसका यह मतलब भी नहीं है कि आदिवासियों के बीच कोई आर्थिक और सामाजिक फ़र्क़ नहीं था।

© NCERT not to be republished

जनजातीय समूह किस तरह जीते थे?

उन्नीसवीं सदी तक देश के विभिन्न भागों में आदिवासी तरह–तरह की गतिविधियों में सक्रिय थे।

कुछ *झूम* खेती करते थे

उनमें से कुछ समुदाय *झूम* खेती करते थे। *झूम* खेती घुमंतू खेती को कहा जाता है। इस तरह की खेती अधिकांशतः जंगलों में छोटे–छोटे भूखण्डों पर की जाती थी। ये लोग ज़मीन तक धूप लाने के लिए पेड़ों के ऊपरी हिस्से काट देते थे और ज़मीन पर उगी घास–फूस जलाकर साफ कर देते थे। इसके बाद वे घास–फूस के जलने पर पैदा हुई राख को खाली ज़मीन पर छिड़क देते थे। इस राख में पोटाश होती थी जिससे मिट्टी उपजाऊ हो जाती थी। वे कुल्हाड़ों से पेड़ों को काटते थे और कुदालों से ज़मीन की ऊपरी सतह को खुरच देते थे। वे खेतों को जोतने और बीज रोपने की बजाय उन्हें बस खेत में बिखेर देते थे। जब एक बार फ़सल तैयार हो जाती थी तो उसे काटकर वे दूसरी जगह के लिए चल पड़ते थे। जहाँ से उन्होंने अभी फ़सल काटी थी वह जगह कई साल तक **परती** पड़ी रहती थी।

परती – कुछ समय के लिए बिना खेती छोड़ दी जाने वाली ज़मीन ताकि उसकी मिट्टी दोबारा उपजाऊ हो जाए।
साल – एक पेड़।
महुआ – एक फूल जिसे खाया जाता है या शराब बनाने के लिए इस्तेमाल किया जाता है।

घुमंतू किसान मुख्य रूप से पूर्वोत्तर और मध्य भारत की पर्वतीय व जंगली पट्टियों में ही रहते थे। इन आदिवासी समुदायों की जिंदगी जंगलों में बेरोकटोक आवाजाही और फ़सल उगाने के लिए ज़मीन और जंगलों के इस्तेमाल पर आधारित थी। वे केवल इसी तरीके से घुमंतू खेती कर सकते थे।

कुछ शिकारी और संग्राहक थे

बहुत सारे इलाकों में आदिवासी समूह पशुओं का शिकार करके और वन्य उत्पादों को इकट्ठा करके अपना काम चलाते थे। वे जंगलों को अपनी ज़िंदगी के लिए बहुत ज़रूरी मानते थे। उड़ीसा के जंगलों में रहने वाला खोंड समुदाय इसी तरह का एक समुदाय था। इस समुदाय के लोग टोलियाँ बना कर शिकार पर निकलते थे और जो हाथ लगता था उसे आपस में बाँट लेते थे। वे जंगलों से मिले फल और जड़ें खाते थे। खाना पकाने के लिए वे **साल** और **महुआ** के बीजों का तेल इस्तेमाल करते थे। इलाज के लिए वे बहुत सारी जंगली जड़ी–बूटियों का इस्तेमाल करते थे और जंगलों से इकट्ठा हुई चीजों को स्थानीय बाज़ारों में बेच देते थे। जब भी स्थानीय बुनकरों और चमड़ा कारीगरों को कपड़े व चमड़े की रँगाई के लिए कुसुम और पलाश

चित्र 2 – डोंगरिया कंध क़बीले की औरतें पंडानु की पत्तियाँ इकट्ठा करके ला रही हैं। इन पत्तियों से पत्तलें बनाई जाएँगी।

के फूलों की ज़रूरत होती थी तो वे खोंड समुदाय के लोगों से ही कहते थे।

इन समुदायों को चावल और अन्य अनाज कहाँ से मिलते थे? कई बार तो चीज़ों की अदला-बदली से काम चल जाता था। वे अपने कीमती वन उत्पादों के बदले ज़रूरत की चीज़ें ले लेते थे। कई बार उन्हें ज़रूरी चीजें खरीदने के लिए अपनी मुट्ठी भर आमदनी का सहारा लेना पड़ता था। उनमें से कई लोग आस पास के गाँवों में नौकरी भी करते थे। कोई बोझ ढोता था तो कोई सड़क निर्माण कार्यों में नौकरी करता था। कई आदिवासी खेत मज़दूर थे। जब वन उत्पाद कम पड़ जाते थे तो आदिवासियों को मज़दूरी के लिए ज्यादा भटकना पड़ता था। लेकिन उनमें से बहुत सारे समुदाय – जैसे मध्य भारत के बैगा – औरों के लिए काम करने से कतराते थे। बैगा खुद को जंगल की संतान मानते थे जो केवल जंगल की उपज पर ही ज़िंदा रह सकती है। मज़दूरी करना बैगाओं के लिए अपमान की बात थी।

चित्र 3 – भारत में कुछ आदिवासी समुदायों के इलाक़े।

जो चीज़ें आसपास पैदा नहीं होती थीं उन्हें हासिल करने के लिए आदिवासियों को खरीद-फ़रोख्त भी करनी पड़ती थी। इसकी वजह से वे कभी-कभी व्यापारियों और महाजनों पर आश्रित हो जाते थे। व्यापारी बेचने की चीजें लेकर आते थे और भारी कीमत पर चीज़ें बेचते थे। सूदखोर महाजन भी आदिवासियों को कर्ज़ा तो देते थे लेकिन उसका ब्याज बहुत ज़्यादा होता था। इस तरह बाजार और वाणिज्य ने आदिवासियों को कर्ज़ और गरीबी में ढकेल दिया था। लिहाज़ा, वे महाजनों और व्यापारियों को बाहरी शैतान और अपनी सारी मुसीबतों की जड़ मानने लगे थे।

कुछ जानवर पालते थे

बहुत सारे आदिवासी समूह जानवर पालकर अपनी ज़िंदगी चलाते थे। वे चरवाहे थे जो मौसम के हिसाब से मवेशियों या भेड़ों के रेवड़ लेकर यहाँ से वहाँ जाते रहते थे। जब एक जगह घास खत्म हो जाती थी तो वे दूसरे इलाके में चले जाते थे। पंजाब के पहाड़ों में रहने वाले वन गुज्जर और आंध्र प्रदेश के लबाड़िया आदि समुदाय गाय-भैंस के झुंड पालते थे। कुल्लू के गद्दी समुदाय के लोग गड़रिये थे और कश्मीर के बकरवाल बकरियाँ पालते थे। अगले साल इतिहास की पाठ्यपुस्तक में आप उनके बारे में विस्तार से पढ़ेंगे।

2019-2020

स्रोत 1

शिकार का वक्त, बुआई का वक्त, नए खेतों में जाने का वक्त

क्या आपने कभी इस बात पर ध्यान दिया है कि विभिन्न प्रकार के समाजों में रहने वाले लोगों की काम और समय के बारे में समझदारी एक जैसी नहीं होती? विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले घुमंतू आदिवासियों और शिकारियों की ज़िंदगी एक खास क्रम और मर्द-औरत के बीच कामों के बँटवारे से चलती थी।

ब्रिटिश मानव विज्ञानी वेरियर ऐल्विन ने 1930 और 1940 के दशकों में कई साल मध्य भारत के बैगा और खोंड समुदायों के बीच बिताए थे। ऐल्विन द्वारा लिखित निम्नलिखित अंशों को पढ़कर इस समयक्रम और कामों के बँटवारे को समझा जा सकता है। वे लिखते हैं :

चैत में औरतें ...... इकट्ठा करने और बचे-खुचे ठूँठों को काटने जाती थीं। पुरुष बड़े पेड़ों को काटते थे और शिकार पर जाते थे। शिकार पूरे चाँद के समय पूर्व से शुरू होता था। शिकार के लिए बाँस के फंदों का इस्तेमाल करते थे। औरतें सागो, इमली और मशरूम (कुकुरमुता) आदि फल बीनकर लाती थीं। बैगा औरतें या तो केवल जड़ें या कंद इकट्ठा करती हैं या महुआ के बीज इकट्ठा करती हैं। मध्य भारत के आदिवासियों में बैगाओं को सबसे अच्छा शिकारी माना जाता था...। बैसाख में जंगलों को जलाया जाता था। औरतें अधजली लकड़ियों को ईंधन के लिए बीन लेती थीं। आदमी शिकार पर जाते रहते थे लेकिन गाँव से दूर नहीं जाते थे। जेठ में बुआयी होती थी और शिकार चलता रहता था। आषाढ़ से भादों तक मर्द खेतों में काम करते थे। क्वार में फलियाँ आने लगती थीं और कार्तिक कुटकी में पक जाती थीं। अगहन में सारी फ़सल तैयार हो जाती थी और पूस में फटकन किया जाता था। नाच-गाना और शादियाँ भी पूस के महीने में ही होती थीं। माघ में पुरुष नए **बेवड़** की तरफ चल देते थे। इस दौरान शिकार व चीज़ों का संग्रह ही जीने की मुख्य गतिविधि होती थी।

यह चक्र पहले साल का होता था। दूसरे साल शिकार के लिए ज़्यादा समय मिल जाता था क्योंकि केवल कुछ फ़सलों की ही बुआयी-कटायी होती थी। क्योंकि भोजन काफी होता था इसलिए पुरुष बेवड़ों में ही रहते थे। तीसरे साल में भोजन के लिए वन उत्पादों की भी ज़रूरत पड़ने लगती थी।

वेरियर ऐल्विन द्वारा लिखित बैगा (1939) और ऐल्विन की अप्रकाशित रचना 'नोट्स ऑन द खोंड्स' (वेरियर ऐल्विन पेपर्स, नेहरू स्मृति संग्रहालय एवं पुस्तकालय) पर आधारित

चित्र 4 *– ईंधन की लकड़ी ले जाती एक संथाल लड़की, बिहार, 1946*

बच्चे वन उपज इकट्ठा करने के लिए अपनी माँओं के साथ जंगल में जाते हैं।

गतिविधि

बैगा औरतें और मर्द जो काम करते हैं, उनको ध्यान से पढ़ें। क्या आपको उनमें कोई क्रम दिखाई देता है? उनके कामों में क्या फ़र्क थे?

2019-2020

कुछ लोग एक जगह खेती करते थे

उन्नीसवीं सदी से पहले ही बहुत सारे जनजातीय क़बीले एक जगह टिक कर खेती करने लगे थे। वे बार-बार जगह बदलने की बजाय साल-दर-साल एक ही जगह खेती करते थे। वे हलों का इस्तेमाल करने लगे थे और धीरे-धीरे उन्हें ज़मीन पर अधिकार भी मिलते जा रहे थे। बहुत सारे समुदायों में छोटानागपुर के मुंडाओं की तरह ज़मीन पूरे क़बीले की संपत्ति होती थी। कुल के सभी सदस्यों को उन मूल निवासियों का वंशज माना जाता था जिन्होंने सबसे पहले आकर ज़मीन को साफ़ किया था। लिहाज़ा, ज़मीन पर सभी का बराबर हक़ होता था। फिर भी, अकसर ऐसा होता था कि कुल के कुछ लोग औरों से ज़्यादा ताकत जुटा लेते थे। कुछ मुखिया बन जाते थे और बाकी उनके अनुयायी होते थे। जो ताकतवर होते थे वे खुद खेती करने की बजाय अकसर अपनी ज़मीन बँटाई पर दे देते थे।

ब्रिटिश अफ़सरों को गोंड और संथाल जैसे एक जगह ठहरकर रहने वाले आदिवासी समूह शिकारी-संग्राहक या घुमंतू खेती करने वालों के मुकाबले ज्यादा सभ्य दिखाई देते थे। जंगलों में रहने वालों को जंगली और बर्बर माना जाता था। अंग्रेज़ों को लगता था कि उन्हें स्थायी रूप से एक जगह बसाना और सभ्य बनाना ज़रूरी है।

बेवड़ – मध्य प्रदेश में घुमंतू खेती के लिए इस्तेमाल होने वाला शब्द।

औपनिवेशिक शासन से आदिवासियों के जीवन पर क्या असर पड़े?

ब्रिटिश शासन के दौरान आदिवासी समूहों का जीवन बदल गया। आओ देखें कि ये बदलाव क्या थे।

आदिवासी मुखियाओं का क्या हुआ?

अंग्रेज़ों के आने से पहले बहुत सारे इलाकों में आदिवासियों के मुखियाओं का महत्वपूर्ण स्थान होता था। उनके पास औरों से ज़्यादा आर्थिक ताकत होती थी और वे अपने इलाके पर नियंत्रण रखते थे। कई जगह उनकी अपनी पुलिस होती थी और वे ज़मीन एवं वन प्रबंधन के स्थानीय नियम खुद बनाते थे। ब्रिटिश शासन के तहत आदिवासी मुखियाओं के कामकाज और अधिकार काफ़ी बदल गए थे। उन्हें कई-कई गाँवों पर ज़मीन का मालिकाना तो मिला रहा लेकिन उनकी शासकीय शक्तियाँ छिन गईं और उन्हें ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा बनाए गए नियमों को मानने के लिए बाध्य कर दिया। उन्हें अंग्रेज़ों को नज़राना देना पड़ता था और अंग्रेज़ों के प्रतिनिधि की हैसियत से अपने समूहों को अनुशासन में रखना होता था। पहले उनके पास जो ताकत थी अब वह नहीं रही। वे परंपरागत कामों को करने से लाचार हो गए।

चित्र 5 – पूर्वोत्तर के निशी आदिवासियों के एक गाँव में लट्ठों से बना घर।
जब ये घर बनाए जाते हैं तो पूरा गाँव मदद करता है।

घुमंतू काश्तकारों का क्या हुआ?

ऐसे समूहों से अंग्रेज़ों को काफ़ी परेशानी थी जो यहाँ-वहाँ भटकते रहते थे और एक जगह ठहरकर नहीं रहते थे। वे चाहते थे कि आदिवासियों के

2019-2020

चित्र 6 – गुजरात के एक जंगल में खेती करती भील औरतें।

घुमंतू खेती गुजरात के बहुत सारे वन क्षेत्रों में अभी भी जारी है। आप देख सकते हैं कि यहाँ पेड़ों को काट दिया गया है और खेती के लिए ज़मीन साफ़ कर दी गई है।

समूह एक जगह स्थायी रूप से रहें और खेती करें। स्थायी रूप से एक जगह रहने वाले किसानों को नियंत्रित करना आसान था। अंग्रेज़ अपने शासन के लिए आमदनी का नियमित स्रोत भी चाहते थे। फलस्वरूप उन्होंने ज़मीन के बारे में कुछ नियम लागू कर दिए। उन्होंने ज़मीन को मापकर प्रत्येक व्यक्ति का हिस्सा तय कर दिया। उन्होंने यह भी तय कर दिया कि किसे कितना लगान देना होगा। कुछ किसानों को भूस्वामी और दूसरों को पट्टेदार घोषित किया गया। जैसा कि आप देख चुके हैं (अध्याय 2), पट्टेदार अपने भूस्वामियों का भाड़ा चुकाते थे और भूस्वामी सरकार को लगान देते थे।

झूम काश्तकारों को स्थायी रूप से बसाने की अंग्रेज़ों की कोशिश बहुत कामयाब नहीं रही। जहाँ पानी कम हो और मिट्टी सूखी हो, वहाँ हलों से खेती करना आसान नहीं होता। बल्कि, हलों की मदद से खेती करने वाले झूम काश्तकारों को अकसर नुकसान ही हुआ क्योंकि उनके खेत अच्छी उपज नहीं दे पाते थे। इसलिए, पूर्वोत्तर राज्यों के झूम काश्तकार इस बात पर अड़े रहे कि उन्हें परंपरागत ढंग से ही जीने दिया जाए। व्यापक विरोध के फलस्वरूप अंग्रेज़ों को आखिरकार उनकी बात माननी पड़ी और ऐसे क़बीलों को जंगल के कुछ हिस्सों में घुमंतू खेती की छूट दे दी गई।

वन कानून और उनके प्रभाव

जैसा कि आपने देखा है, आदिवासी समूहों का जीवन जंगलों से जुड़ा हुआ था। अतः, वन कानूनों में आए बदलावों से आदिवासियों के जीवन पर भी

चित्र 7 – आंध्र प्रदेश में धान के खेत में काम करते आदिवासी।

समतल मैदानों और जंगलों में धान की खेती के बीच फ़र्क को देखें।

भारी असर पड़ा। अंग्रेज़ों ने सारे जंगलों पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया था और जंगलों को राज्य की संपत्ति घोषित कर दिया था। कुछ जंगलों को आरक्षित वन घोषित कर दिया गया। ये ऐसे जंगल थे जहाँ अंग्रेज़ों की ज़रूरतों के लिए इमारती लकड़ी पैदा होती थी। इन जंगलों में लोगों को स्वतंत्र रूप से घूमने, झूम खेती करने, फल इकट्ठा करने या पशुओं का शिकार करने की इजाज़त नहीं थी। ऐसी सूरत में झूम काश्तकार किस तरह ज़िंदा रह सकते थे? इसलिए, उनमें से बहुतों को काम और रोजगार की तलाश में मजबूरन दूसरे इलाकों में जाना पड़ा।

जैसे ही अंग्रेज़ों ने जंगलों के भीतर आदिवासियों के रहने पर पाबंदी लगा दी, उनके सामने एक समस्या पैदा हो गई। समस्या यह थी कि रेलवे **स्लीपर्स** के लिए पेड़ काटने और लकड़ी को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने के लिए मज़दूरों का इंतज़ाम कहाँ से किया जाए?

स्लीपर – लकड़ी के क्षैतिज तख्ते जिन पर रेल की पटरियाँ बिछाई जाती हैं।

औपनिवेशिक अधिकारियों ने इसका भी एक हल ढूँढ़ निकाला। उन्होंने तय किया कि झूम काश्तकारों को जंगल में ज़मीन के छोटे टुकड़े दिए जाएँगे और उन्हें वहाँ खेती करने की भी छूट होगी बशर्ते गाँवों में रहने वालों को वन विभाग के लिए मज़दूरी करनी होगी और जंगलों की देखभाल करनी होगी। इस तरह, बहुत सारे इलाकों में वन विभाग ने सस्ते श्रम की आपूर्ति सुनिश्चित करने के लिए वन गाँव बसा दिए।

स्रोत 2

"अंग्रेज़ों के इस देस में जीना कितना कठिन है"

1930 के दशक में वेरियर ऐल्विन ने मध्य भारत में रहने वाले बैगा आदिवासियों के इलाकों का दौरा किया था। ऐल्विन इन लोगों के रीति-रिवाज, उनकी कला और लोक संस्कृति को जानना चाहते थे। उन्होंने बैगाओं के बहुत सारे गीत इकट्ठे किए जिनमें इस बात पर शिकायत की गई है कि अंग्रेज़ों के शासन में बैगा कितने बुरे दौर से गुजर रहे हैं।

अंग्रेज़ों के इस देस में जीना कितना है मुश्किल
जीना कितना है मुश्किल
ज़मीदार बैठा है गाँव में
दरवाज़े में कोतवार
बगीचों में पटवारी
खेतों में सरकार
अंग्रेज़ों के इस देस में जीना कितना है मुश्किल
पशु कर अदा करने के लिए बेचते हैं गाय
तो भैंस बेचते हैं जंगल कर के लिए
बैलों को बेच कर अदा करते हैं लगान
भोजन पाएँ कहाँ से
अंग्रेज़ों के इस देस में

वेरियर ऐल्विन एवं शामरॉव हिवाले, सॉन्ग्स ऑफ़ दि मैकल, पृष्ठ 316 से उद्धृत।

© NCERT not to be republished

2019-2020

चित्र 8 – *गोदारा औरतें बुनाई करती हुईं।*

बहुत सारे आदिवासी समूहों ने औपनिवेशिक वन कानूनों का विरोध किया। उन्होंने नए नियमों का पालन करने से इनकार कर दिया और उन्हीं तौर-तरीकों से चलते रहे जिन्हें सरकार गैर-कानूनी घोषित कर चुकी है। कई बार उन्होंने खुलेआम बग़ावत भी कर दी। 1906 में सोंग्रम संगमा द्वारा असम में और 1930 के दशक में मध्य प्रांत में हुआ वन सत्याग्रह इसी तरह के विद्रोह थे।

व्यापार की समस्या

उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान जनजातीय समूहों ने पाया कि व्यापारी और महाजन जंगलों में जल्दी-जल्दी आने लगे हैं। वे वन उपज खरीदने, नक़द कर्ज़ा देने और आदिवासियों को मजदूरी पर रखने के लिए आ रहे थे। इन सारे बदलावों से क्या असर पड़ने वाले हैं, यह समझने में आदिवासियों को कुछ समय लगा।

यह समझने के लिए आइए रेशम उत्पादकों की स्थिति को देखें। अठारहवीं सदी में भारतीय रेशम की यूरोपीय बाज़ारों में भारी माँग थी। भारतीय रेशम की अच्छी गुणवत्ता सबको आकर्षित करती थी और भारत का निर्यात तेज़ी से बढ़ रहा था। जैसे-जैसे बाज़ार फैला ईस्ट इंडिया कंपनी के अफसर इस माँग को पूरा करने के लिए रेशम उत्पादन पर ज़ोर देने लगे।

वर्तमान झारखण्ड में स्थित हज़ारीबाग के आस-पास रहने वाले संथाल रेशम के कीड़े पालते थे। रेशम के व्यापारी अपने ऐजेंटों को भेजकर आदिवासियों को कर्ज़े देते थे और उनके कृमिकोषों को इकट्ठा कर लेते थे। एक हज़ार कृमिकोषों के लिए 3-4 रुपए मिलते थे। इसके बाद इन कृमिकोषों को बर्दवान या गया भेज दिया जाता था जहाँ उन्हें पाँच गुना कीमत पर बेचा जाता था। निर्यातकों और रेशम उत्पादकों के बीच कड़ी का काम करने वाले बिचौलियों को जमकर मुनाफ़ा होता था। रेशम उत्पादकों को बहुत मामूली फ़ायदा मिलता था। स्वाभाविक है कि बहुत सारे आदिवासी समुदाय बाज़ार और व्यापारियों को अपना सबसे बड़ा दुश्मन मानने लगे थे।

चित्र 9 – *चटाई बुनती एक हाजाँग औरत*

औरतों के लिए घरेलू काम सिर्फ़ घर तक ही सीमित नहीं था। वे खेतों और कारखानों में भी अपने बच्चों को साथ लेकर जाती थीं।

चित्र 10 – बिहार के कोयला खनिक, 1948.

1920 के दशक में बिहार की झरिया और रानीगंज कोयला खदानों में काम करने वाले लगभग 50 प्रतिशत खनिक आदिवासी थे। अँधेरी और दमघोंटू खदानों की गहराई में काम करना न केवल शरीर को तोड़ता था बल्कि यह खतरनाक था। वह अकसर सचमुच जान ले लेता था। 1920 के दशक में देश की कोयला खदानों में हर साल 2,000 से ज्यादा मज़दूर मारे जाते थे।

काम की तलाश

काम की तलाश में घर से दूर जाने वाले आदिवासियों की दशा तो और भी खराब थी। उन्नीसवीं सदी के आखिर से ही चाय बागान फैलने लगे थे। खनन उद्योग भी एक महत्वपूर्ण उद्योग बन गया था। असम के चाय बाग़ानों और झारखण्ड की कोयला खादानों में काम करने के लिए आदिवासियों को बड़ी संख्या में भर्ती किया गया। इन लोगों को ठेकेदारों की मार्फ़त भर्ती किया जाता था। ये ठेकेदार न केवल उन्हें बहुत कम वेतन देते थे बल्कि उन्हें वापस घर भी लौटने नहीं देते थे।

गतिविधि

पता लगाएँ कि कोयला खदानों में काम के हालात बदल गए हैं या नहीं। पता लगाएँ कि खदानों में हर साल कितने लोग मरते हैं और उनकी मौत के क्या कारण होते हैं।

नज़दीक से देखने पर

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों के दौरान देश के विभिन्न भागों में जनजातीय समूहों ने बदलते कानूनों, अपने व्यवहार पर लगी पाबंदियों, नए करों और व्यापारियों व महाजनों द्वारा किए जा रहे शोषण के खिलाफ़ कई बार बग़ावत की। 1831-32 में कोल आदिवासियों ने और 1855 में संथालों ने बग़ावत कर दी थी। मध्य भारत में बस्तर विद्रोह 1910 में हुआ और 1940 में महाराष्ट्र में वर्ली विद्रोह हुआ। बिरसा जिस आंदोलन का नेतृत्व कर रहे थे वह भी इसी तरह का विद्रोह था।

2019-2020

स्रोत 3

लहू लुहान मेरे कंधे

मुंडा आदिवासियों के गीतों में उनके कष्ट झलकते हैं।

हाय! कोहलू के बैल की
तरह मैं
लहू लुहान मेरे कंधे
ज़मींदार के दूत दिन और
रात करते हैं मुझे परेशान
बड़बड़ाता हूँ मैं यही दिन
और रात
हाय! यही है मेरी हालत!
नहीं है मेरा कोई ठिकाना
नहीं हैं मेरी कोई खुशियाँ

के.एस. सिंह, बिरसा मुंडा एंड हिज़ मूवमेंट, पृष्ठ 12

वैष्णव – विष्णु की पूजा करने वाले वैष्णव कहलाते हैं।

बिरसा मुंडा

बिरसा का जन्म 1870 के दशक के मध्य में हुआ। उनके पिता गरीब थे। बिरसा का बचपन भेड़-बकरियाँ चराते, बाँसुरी बजाते और स्थानीय अखाड़ों में नाचते-गाते बीता था। उनकी परवरिश मुख्य रूप से बोहोंडा के आस-पास के जंगलों में हुई। गरीबी से लाचार बिरसा के पिता को काम की तलाश में जगह-जगह भटकना पड़ता था। लड़कपन में ही बिरसा ने अतीत में हुए मुंडा विद्रोहों की कहानियाँ सुन ली थीं। उन्होंने कई बार समुदाय के सरदारों (मुखियाओं) को विद्रोह का आह्वान करते देखा था। बिरसा के समुदाय के लोग ऐसे स्वर्ण युग की बात किया करते थे जब मुंडा लोग *दीकुओं* के उत्पीड़न से पूरी तरह आज़ाद थे। सरदारों का कहना था कि एक बार फिर उनके समुदाय के परंपरागत अधिकार बहाल हो जाएँगे। वे खुद को इलाके के मूल निवासियों का वंशज मानते थे और अपनी ज़मीन की लड़ाई (मुल्क की लड़ाई) लड़ रहे थे। वे लोगों को याद दिलाते थे कि उन्हें अपना साम्राज्य वापस पाना है।

बिरसा स्थानीय मिशनरी स्कूल में जाने लगे जहाँ उन्हें मिशनरियों के उपदेश सुनने का मौका मिला। वहाँ भी उन्होंने यही सुना कि मुंडा समुदाय स्वर्ग का साम्राज्य हासिल कर सकता है और अपने खोये हुए अधिकार वापस पा सकता है। अगर वे अच्छे ईसाई बन जाएँ और अपनी "खराब आदतें" छोड़ दें तो ऐसा हो सकता है। बाद में बिरसा ने एक जाने-माने **वैष्णव** धर्म प्रचारक के साथ भी कुछ समय बिताया। उन्होंने जनेऊ धारण किया और शुद्धता व दया पर जोर देने लगे।

अपनी किशोरावस्था में बिरसा जिन विचारों के संपर्क में आए, उनसे वह काफ़ी गहरे तौर पर प्रभावित थे। बिरसा का आंदोलन आदिवासी समाज को सुधारने का आंदोलन था। उन्होंने मुंडाओं से आह्वान किया कि वे शराब पीना छोड़ दें, गाँवों को साफ़ रखें और डायन व जादू-टोने में विश्वास न करें। यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि बिरसा ने मिशनरियों और हिंदू जमींदारों का भी लगातार विरोध किया। वह उन्हें बाहर का मानते थे जो मुंडा जीवन शैली को नष्ट कर रहे थे।

1895 में बिरसा ने अपने अनुयायियों से आह्वान किया कि वे अपने गौरवपूर्ण अतीत को पुनर्जीवित करने के लिए संकल्प लें। वह अतीत के एक ऐसे स्वर्ण युग – सतयुग – की चर्चा करते थे जब मुंडा लोग अच्छा जीवन जीते थे, तटबंध बनाते थे, कुदरती झरनों को नियंत्रित करते थे, पेड़ और बाग लगाते थे, पेट पालने के लिए खेती करते थे। उस काल्पनिक युग में मुंडा अपने बिरादरों और रिश्तेदारों का खून नहीं बहाते थे। वे ईमानदारी से जीते थे। बिरसा चाहते थे कि लोग एक बार फिर अपनी ज़मीन पर खेती करें, एक जगह टिक कर रहें और अपने खेतों में काम करें।

अंग्रेज़ों को बिरसा आंदोलन के राजनीतिक उद्देश्यों से बहुत ज्यादा परेशानी थी। यह आंदोलन मिशनरियों, महाजनों, हिंदू भूस्वामियों और सरकार को बाहर निकालकर बिरसा के नेतृत्व में मुंडा राज स्थापित करना चाहता था।

© NCERT not to be republished

यह आंदोलन इन्हीं ताकतों को मुंडाओं की सारी समस्याओं व कष्टों का स्रोत मानता था। अंग्रेज़ों की भूनीतियाँ उनकी परंपरागत भूमि व्यवस्था को नष्ट कर रही थीं, हिंदू भूस्वामी और महाजन उनकी ज़मीन छीनते जा रहे थे और मिशनरी उनकी परंपरागत संस्कृति की आलोचना करते थे।

जब आंदोलन फैलने लगा तो अंग्रेज़ों ने सख्त कार्रवाई का फ़ैसला लिया। उन्होंने 1895 में बिरसा को गिरफ़्तार किया और दंगे-फ़साद के आरोप में दो साल की सज़ा सुनायी।

1897 में जेल से लौटने के बाद बिरसा समर्थन जुटाते हुए गाँव-गाँव घूमने लगे। उन्होंने लोगों को उकसाने के लिए परंपरागत प्रतीकों और भाषा का इस्तेमाल किया। वे आह्वान कर रहे थे कि उनके नेतृत्व में साम्राज्य की स्थापना के लिए "रावणों" (*दीकु* और यूरोपीयों) को तबाह कर दें। बिरसा के अनुयायी *दीकु* और यूरोपीय सत्ता के प्रतीकों को निशाना बनाने लगे। उन्होंने थाने और चर्चों पर हमले किए और महाजनों व ज़मींदारों की संपत्तियों पर धावा बोल दिया। सफ़ेद झंडा बिरसा राज का प्रतीक था।

सन् 1900 में बिरसा की हैज़े से मृत्यु हो गई और आंदोलन ठंडा पड़ गया। यह आंदोलन दो मायनों में महत्वपूर्ण था। पहला – इसने औपनिवेशिक सरकार को ऐसे कानून लागू करने के लिए मज़बूर किया जिनके ज़रिए *दीकु* लोग आदिवासियों की ज़मीन पर आसानी से कब्ज़ा न कर सकें। दूसरा, इसने एक बार फिर जता दिया कि अन्याय का विरोध करने और औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध अपने गुस्से को अभिव्यक्त करने में आदिवासी सक्षम हैं। उन्होंने अपने खास अंदाज़ में, अपनी खास रस्मों और संघर्ष के प्रतीकों के ज़रिए इस काम को अंजाम दिया।

अन्यत्र

हमें नक़दी की क्या ज़रूरत!

ऐसे बहुत सारे कारण हैं जिनकी वजह से आदिवासी और अन्य सामाजिक समूह प्राय: बाज़ार के लिए पैदावार नहीं करना चाहते। पापुआ न्यू गिनी के इस जनजातीय गीत में इस बात की झलक मिलती है कि वहाँ के आदिवासी बाज़ार को किस तरह देखते हैं।

कहते हैं नकदी
है बेकार का कूड़ा-करकट
बारिश ये रोक नहीं सकती
और देती है तकलीफें

इन सरकारी मठाधीशों के लिए
क्यों मैं जोश से करूँ काम
क्यों मैं चढ़ूँ नारियल के पेड़ पर?

तो है नकदी फसलें अच्छी
लेकिन श्रीमान मुझे बताएँ
अगर ख़रीदने को नहीं है कुछ
तो मैं चिन्ता करूँ क्यों?

कोहेन, क्लार्क एवं हासवेल, सं., दि इकॉनॉमी ऑफ़ सब्सिस्टेंस एग्रीकल्चर (1970), में उद्धृत एक गीत पर आधारित।

फिर से याद करें

1. रिक्त स्थान भरें :

(क) अंग्रेज़ों ने आदिवासियों को .... के रूप में वर्णित किया।

(ख) झूम खेती में बीज बोने के तरीके को .... कहा जाता है।

(ग) मध्य भारत में ब्रिटिश भूमि बंदोबस्त के अंतर्गत आदिवासी मुखियाओं को .... स्वामित्व मिल गया।

(घ) असम के .... और बिहार की .... में काम करने के लिए आदिवासी जाने लगे।

2019-2020

© NCERT not to be republished

आइए कल्पना करें

मान लीजिए कि आप उन्नीसवीं सदी के वन गाँव में रहने वाले झूम काश्तकार हैं। आपको कहा गया है कि जहाँ आप पैदा हुए हैं अब वह ज़मीन आपकी नहीं मानी जाएगी। अंग्रेज़ अफ़सरों से मिलकर आप अपनी समस्याओं के बारे में बताना चाहते हैं। आप उन्हें क्या बताएँगे?

2. सही या गलत बताएँ :

(क) झूम काश्तकार ज़मीन की जुताई करते हैं और बीज रोपते हैं।

(ख) व्यापारी संथालों से कृमिकोष खरीदकर उसे पाँच गुना ज़्यादा कीमत पर बेचते थे।

(ग) बिरसा ने अपने अनुयायियों का आह्वान किया कि वे अपना शुद्धिकरण करें, शराब पीना छोड़ दें और डायन व जादू-टोने जैसी प्रथाओं में यकीन न करें।

(घ) अंग्रेज़ आदिवासियों की जीवन पद्धति को बचाए रखना चाहते थे।

आइए विचार करें

3. ब्रिटिश शासन में घुमंतू काश्तकारों के सामने कौन सी समस्याएँ थीं?
4. औपनिवेशिक शासन के तहत आदिवासी मुखियाओं की ताकत में क्या बदलाव आए?
5. दीकुओं से आदिवासियों के गुस्से के क्या कारण थे?
6. बिरसा की कल्पना में स्वर्ण युग किस तरह का था? आपकी राय में यह कल्पना लोगों को इतनी आकर्षक क्यों लग रही थी?

आइए करके देखें

7. अपने माता-पिता दोस्तों या शिक्षकों से बात करके बीसवीं सदी के अन्य आदिवासी विद्रोहों के नायकों के नाम पता करें। उनकी कहानी अपने शब्दों में लिखें।

© NCERT not to be republished

5 जब जनता बग़ावत करती है 1857 और उसके बाद

0865CH05

चित्र 1 – सिपाही और किसान विद्रोह के लिए ताकत जुटाते हुए। यह विद्रोह 1857 में उत्तर भारत के मैदानों में फैल गया था।

नीतियाँ और लोग

पिछले अध्यायों में आपने ईस्ट इंडिया कंपनी की नीतियों और जनता पर उसके प्रभावों के बारे में पढ़ा। इन नीतियों से राजाओं, रानियों, किसानों, ज़मींदारों, आदिवासियों, सिपाहियों, सब पर तरह-तरह से असर पड़े। आप यह भी देख चुके हैं कि जो नीतियाँ और कार्रवाइयाँ जनता के हित में नहीं होतीं या जो उनकी भावनाओं को ठेस पहुँचाती हैं उनका लोग किस तरह विरोध करते हैं।

नवाबों की छिनती सत्ता

अठारहवीं सदी के मध्य से ही राजाओं और नवाबों की ताकत छिनने लगी थी। उनकी सत्ता और सम्मान, दोनों खत्म होते जा रहे थे। बहुत सारे दरबारों में रेज़िडेंट तैनात कर दिए गए थे। स्थानीय शासकों की स्वतंत्रता घटती जा रही थी। उनकी सेनाओं को भंग कर दिया गया था। उनके राजस्व वसूली के अधिकार व इलाके एक-एक करके छीने जा रहे थे।

बहुत सारे स्थानीय शासकों ने अपने हितों की रक्षा के लिए कंपनी के साथ बातचीत भी की। उदाहरण के लिए, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई चाहती थीं कि कंपनी उनके पति की मृत्यु के बाद उनके गोद लिए हुए बेटे को

© not to be republished

राजा मान ले। पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र नाना साहेब ने भी कंपनी से आग्रह किया कि उनके पिता को जो पेंशन मिलती थी वह मृत्यु के बाद उन्हें मिलने लगे। अपनी श्रेष्ठता और सैनिक ताकत के नशे में चूर कंपनी ने इन निवेदनों को ठुकरा दिया।

अवध की रियासत अंग्रेज़ों के कब्ज़े में जाने वाली आखिरी रियासतों में से थी। 1801 में अवध पर एक सहायक संधि थोपी गयी और 1856 में अंग्रेज़ों ने उसे अपने कब्ज़े में ले लिया। गवर्नर-जनरल डलहौज़ी ने ऐलान कर दिया कि रियासत का शासन ठीक से नहीं चलाया जा रहा है इसलिए शासन को दुरुस्त करने के लिए ब्रिटिश प्रभुत्व जरूरी है।

कंपनी ने मुग़लों के शासन को खत्म करने की भी पूरी योजना बना ली थी। कंपनी द्वारा जारी किए गए सिक्कों पर से मुग़ल बादशाह का नाम हटा दिया गया। 1849 में गवर्नर जनरल डलहौज़ी ने ऐलान किया कि बहादुर शाह ज़फ़र की मृत्यु के बाद बादशाह के परिवार को लाल क़िले से निकाल कर उसे दिल्ली में कहीं और बसाया जाएगा। 1856 में गवर्नर-जनरल कैनिंग ने फ़ैसला किया कि बहादुर शाह ज़फ़र आखिरी मुग़ल बादशाह होंगे। उनकी मृत्यु के बाद उनके किसी भी वंशज को बादशाह नहीं माना जाएगा। उन्हें केवल राजकुमारों के रूप में मान्यता दी जाएगी।

किसान और सिपाही

गाँवों में किसान और ज़मींदार भारी-भरकम लगान और कर वसूली के सख्त तौर-तरीकों से परेशान थे। बहुत सारे लोग महाजनों से लिया कर्ज़ नहीं लौटा पा रहे थे। इसके कारण उनकी पीढ़ियों पुरानी ज़मीनें हाथ से निकलती जा रही थीं।

कंपनी के तहत काम करने वाले भारतीय सिपाहियों के असंतोष की अपनी वजह थी। वे अपने वेतन, भत्तों और सेवा शर्तों के कारण परेशान थे। कई नए नियम उनकी धार्मिक भावनाओं और आस्थाओं को ठेस पहुँचाते थे। क्या आप जानते हैं कि उस ज़माने में बहुत सारे लोग समुद्र पार नहीं जाना चाहते थे। उन्हें लगता था कि समुद्र यात्रा से उनका धर्म और जाति भ्रष्ट हो जाएँगे। जब 1824 में सिपाहियों को कंपनी की ओर से लड़ने के लिए समुद्र के रास्ते बर्मा जाने का आदेश मिला तो उन्होंने इस हुक्म को मानने से इनकार कर दिया। उन्हें ज़मीन के रास्ते से जाने में ऐतराज़ नहीं था। सरकार का हुक्म न मानने के कारण उन्हें सख्त सज़ा दी गई। क्योंकि यह मुद्दा अभी खत्म नहीं हुआ था इसलिए 1856 में कंपनी को एक नया कानून बनाना पड़ा। इस कानून में साफ़ कहा गया था कि अगर कोई व्यक्ति कंपनी की सेना में नौकरी करेगा तो ज़रूरत पड़ने पर उसे समुद्र पार भी जाना पड़ सकता है।

सिपाही गाँवों के हालात से भी परेशान थे। बहुत सारे सिपाही खुद किसान थे। वे अपने परिवार गाँवों में छोड़कर आए थे। लिहाज़ा, किसानों का गुस्सा जल्दी ही सिपाहियों में भी फैल गया।

गतिविधि

कल्पना कीजिए कि आप कंपनी की सेना में सिपाही हैं। आप नहीं चाहते कि आपका भतीजा कंपनी की फौज में नौकरी करे। आप उसे क्या कारण बताएँगे?

2019-2020

सुधारों पर प्रतिक्रिया

अंग्रेज़ों को लगता था कि भारतीय समाज को सुधारना जरूरी है। सती प्रथा को रोकने और विधवा विवाह को बढ़ावा देने के लिए कानून बनाए गए। अंग्रेज़ी भाषा की शिक्षा को जमकर प्रोत्साहन दिया गया। 1830 के बाद कंपनी ने ईसाई मिशनरियों को खुलकर काम करने और यहाँ तक कि ज़मीन व संपत्ति जुटाने की भी छूट दे दी। 1850 में एक नया कानून बनाया गया जिससे ईसाई धर्म को अपनाना और आसान हो गया। इस कानून में प्रावधान किया गया था कि अगर कोई भारतीय व्यक्ति ईसाई धर्म अपनाता है तो भी पुरखों की संपत्ति पर उसका अधिकार पहले जैसा ही रहेगा। बहुत सारे भारतीयों को यकीन हो गया था कि अंग्रेज़ उनका धर्म, उनके सामाजिक रीति-रिवाज और परंपरागत जीवनशैली को नष्ट कर रहे हैं।

दूसरी तरफ ऐसे भारतीय भी थे जो मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में बदलाव चाहते थे। इन सुधारकों और उनके सुधार आंदोलनों के बारे में आप अध्याय 8 में पढ़ेंगे।

चित्र 2 *– उत्तर भारत के बाज़ारों में सिपाही खबरें और अफ़वाहें फैलाते हुए।*

जनता की नजर से

उस ज़माने में लोग अंग्रेज़ शासन के बारे में क्या सोच रहे थे, इसका जायजा लेने के लिए आप स्रोत 1 और 2 को पढ़ें।

स्रोत 1

चौरासी नियमों की सूची

यहाँ महाराष्ट्र के एक गाँव में रहने वाले ब्राह्मण विष्णुभट्ट गोडसे द्वारा लिखित पुस्तक *माझा प्रवास* के कुछ अंश दिए गए हैं। विष्णुभट्ट और उनके चाचा मथुरा में आयोजित किए जा रहे एक यज्ञ में भाग लेने के लिए निकले थे। विष्णुभट्ट लिखते हैं कि रास्ते में उनकी मुलाक़ात कुछ सिपाहियों से हुई जिन्होंने उन्हें सलाह दी कि वे वापस लौट जाएँ क्योंकि तीन दिन के भीतर चारों तरफ कोहराम मच जाएगा। सिपाहियों ने जो कहा वह इस प्रकार था :

> अंग्रेज़ सरकार हिंदुओं और मुसलमानों के धर्म को नष्ट करने पर आमादा है... उन्होंने चौरासी नियमों की एक सूची बनाई है और कलकत्ता में सारे राजाओं और राजकुमारों की मौजूदगी में उसका ऐलान कर दिया है। उन्होंने (सिपाहियों ने) बताया कि राजा इन नियमों को मानने के लिए तैयार नहीं है। उन्होंने अंग्रेज़ों को घातक परिणामों की चेतावनी दी है। राजाओं ने कहा है कि अगर ये नियम लागू किए गए तो भारी उथल-पुथल मच जाएगी... कि राजा भारी गुस्से में अपनी राजधानियों को लौट गए हैं... तमाम बड़े लोग योजनाएँ बना रहे हैं। धर्मयुद्ध के लिए तारीख तय कर ली गई थी और मेरठ छावनी से एक गुप्त योजना तैयार करके विभिन्न छावनियों में भेज दी गई थी।

विष्णुभट्ट गोडसे, माझा प्रवास *पृष्ठ 23-24.*

2019-2020

"जल्दी ही हर टुकड़ी में उत्तेजना छा गई"

उस दौर की एक और झलक सूबेदार सीताराम पांडे के संस्मरणों में मिलती है। सीताराम पांडे को 1812 में बंगाल नेटिव आर्मी में सिपाही के तौर पर भर्ती किया गया था। उन्होंने 48 साल तक नौकरी की और 1860 में वे सेवानिवृत हुए। उन्होंने बग़ावत को दबाने में अंग्रेज़ों की मदद की हालाँकि उनका बेटा भी विद्रोहियों के साथ था और अंग्रेज़ों ने उसे सीताराम की आँखों के सामने ही मार डाला था। अपने सेवानिवृत्ति के बाद उनके कमान अफ़सर नॉरगेट ने उन्हें अपने संस्मरण लिखने के लिए प्रेरित किया। सीताराम ने 1861 में अवधी भाषा में अपने संस्मरण लिखे जिनका नॉरगेट ने अंग्रेज़ी में अनुवाद किया और *फ्रॉम सिपॉय टू सूबेदार (सिपाही से सूबेदार तक)* के नाम से प्रकाशित करवाया।

सीताराम पांडे के संस्मरणों का एक अंश इस प्रकार था :

> मेरा मानना है कि अवध पर हुए कब्ज़े से सिपाहियों के भीतर गहरा अविश्वास भर गया था और वे सरकार के खिलाफ़ साज़िशें रचने लगे थे। अवध के नवाब और दिल्ली बादशाह के नुमाइंदों को सेना की नब्ज़ जानने के लिए पूरे भारत में भेज दिया गया। उन्होंने सिपाहियों की भावनाओं को और हवा दी। उन्होंने सिपाहियों को बताया कि विदेशियों ने बादशाह के साथ कितना बड़ा धोखा किया है। उन्होंने हज़ार झूठ गढ़ डाले और सिपाहियों को अपने मालिकों, अंग्रेज़ों के खिलाफ़ बगावत करने के लिए उकसाया ताकि दिल्ली में बादशाह को दोबारा गद्दी पर बैठाया जा सके। उनकी दलील थी कि अगर सिपाही मिलकर काम करें और इन सुझावों पर अमल करें तो सेना ऐसा कर सकती है।

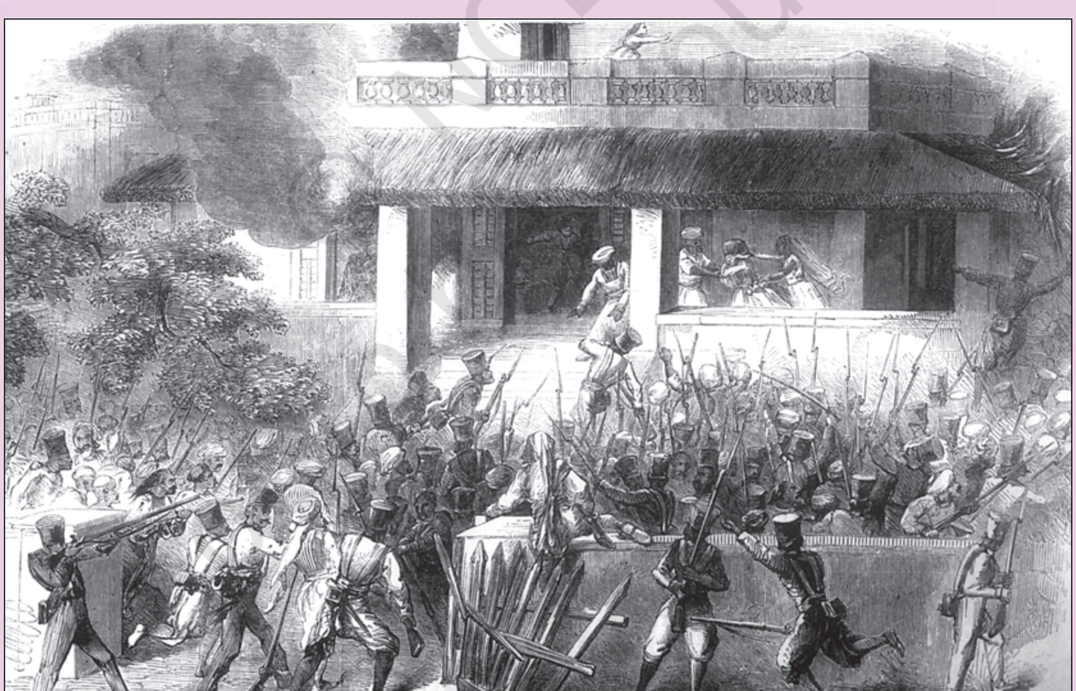

चित्र 3 *– मेरठ में विद्रोही सिपाही अफसरों पर हमला करते हैं, उनके घरों में घुस जाते हैं और इमारतों में आग लगा देते हैं।*

स्रोत 2 जारी...

स्रोत 2 का शेष...

संयोग से इसी समय सरकार ने हरेक रेजिमेंट के कुछ लोगों को नयी राइफल के इस्तेमाल का तरीका बताने के लिए अलग-अलग छावनियों में भेजा। इन लोगों ने कुछ समय तक सिपाहियों को प्रशिक्षण दिया। इसी दौरान न जाने कहाँ से यह ख़बर फैल गई कि इन राइफलों में इस्तेमाल होने वाले कारतूसों पर गाय और सुअर की चर्बी का लेप चढ़ाया गया है। हमारी रेजिमेंट के लोग दूसरे लोगों को लिखकर यह ख़बर भेजने लगे और जल्दी ही हरेक रेजिमेंट में उत्तेजना का माहौल बन गया। कुछ लोगों ने कहा कि उनकी चालीस साल की नौकरी में सरकार ने उनके मज़हब को चोट पहुँचाने के लिए कभी कुछ नहीं किया था। लेकिन जैसा कि मैंने पहले ही ज़िक्र किया, अवध पर कब्ज़े के कारण सिपाही पहले ही गुस्से में थे। स्वार्थी लोगों ने फ़ौरन यह कहानी गढ़ दी कि अंग्रेज़ तो सबको ईसाई बनाना चाहते हैं इसीलिए उन्होंने ऐसे कारतूस तैयार किए हैं ताकि उन्हें इस्तेमाल करने से मुसलमान और हिंदू, दोनों ही भ्रष्ट हो जाएँ।

कर्नल साहब का मानना था कि यह बेचैनी, जो उन्हें भी साफ़ दिखाई दे रही थी, इस बार भी अपने आप खत्म हो जाएगी और उन्होंने मुझे घर चले जाने की हिदायत दी।

सीताराम पाँडे, फ्रॉम सिपॉय टू सूबेदार, पृष्ठ 162-63

गतिविधि

1. सीताराम और विष्णुभट्ट के मुताबिक लोगों के दिमाग में मुख्य चिंताएँ कौन सी थीं?
2. उनकी राय में शासकों ने क्या भूमिका निभाई? सिपाही क्या भूमिका निभाते दिखाई दे रहे थे?

सैनिक विद्रोह जनविद्रोह बन गया

यद्यपि शासक और प्रजा के बीच संघर्ष कोई अनोखी बात नहीं होती लेकिन कभी-कभी ये संघर्ष इतने फैल जाते हैं कि राज्य की सत्ता छिन्न-भिन्न हो जाती है। बहुत सारे लोग मानने लगे हैं कि उन सबका शत्रु एक है। इसलिए वे सभी कुछ करना चाहते हैं। इस तरह की स्थिति में हालात अपने हाथ में लेने के लिए लोगों को संगठित होना पड़ता है, उन्हें संचार, पहलक़दमी और आत्मविश्वास का परिचय देना होता है।

सैनिक विद्रोह – जब सिपाही इकट्ठा होकर अपने सैनिक अफ़सरों का हुक्म मानने से इनकार कर देते हैं।

भारत के उत्तरी भागों में 1857 में ऐसी ही स्थिति पैदा हो गई थी। फ़तह और शासन के 100 साल बाद ईस्ट इंडिया कंपनी को एक भारी विद्रोह से जूझना पड़ रहा था। मई 1857 में शुरू हुई इस बग़ावत ने भारत में कंपनी का अस्तित्व ही खतरे में डाल दिया था। मेरठ से शुरू करके सिपाहियों ने कई जगह बग़ावत की। समाज के विभिन्न तबकों के असंख्य लोग विद्रोही तेवरों के साथ उठ खड़े हुए। कुछ लोग मानते हैं कि उन्नीसवीं सदी में उपनिवेशवाद के खिलाफ दुनिया भर में यह सबसे बड़ा सशस्त्र संघर्ष था।

© NCERT not to be republished

चित्र 4 – कैवेलरी लाइनों में युद्ध।
3 जुलाई 1857 को 3,000 से ज्यादा विद्रोही बरेली से दिल्ली आ पहुँचे। उन्होंने यमुना को पार किया और ब्रिटिश कैवेलरी चौकियों पर धावा बोल दिया। यह युद्ध पूरी रात चलता रहा।

मेरठ से दिल्ली तक

29 मार्च 1857 को युवा सिपाही – मंगल पांडे – को बैरकपुर में अपने अफ़सरों पर हमला करने के आरोप में फाँसी पर लटका दिया गया। चंद दिन बाद मेरठ में तैनात कुछ सिपाहियों ने नए कारतूसों के साथ फ़ौजी अभ्यास करने से इनकार कर दिया। सिपाहियों को लगता था कि उन कारतूसों पर गाय और सूअर की चर्बी का लेप चढ़ाया गया था। 85 सिपाहियों को नौकरी से निकाल दिया गया। उन्हें अपने अफ़सरों का हुक्म न मानने के आरोप में 10–10 साल की सजा दी गई। यह 9 मई 1857 की बात है।

मेरठ में तैनात दूसरे भारतीय सिपाहियों की प्रतिक्रिया बहुत ज़बरदस्त रही। 10 मई को सिपाहियों ने मेरठ की जेल पर धावा बोलकर वहाँ बंद सिपाहियों को आज़ाद करा लिया। उन्होंने अंग्रेज़ अफ़सरों पर हमला करके उन्हें मार गिराया। उन्होंने बंदूक और हथियार कब्ज़े में ले लिए और अंग्रेज़ों की इमारतों व संपत्तियों को आग के हवाले कर दिया। उन्होंने **फ़िरंगियों** के खिलाफ युद्ध का ऐलान कर दिया। सिपाही पूरे देश में अंग्रेज़ों के शासन को खत्म करने पर आमादा थे। लेकिन सवाल यह था कि अंग्रेज़ों के जाने के बाद देश का शासन कौन चलाएगा। सिपाहियों ने इसका भी जवाब ढूँढ़ लिया था। वे मुग़ल सम्राट बहादुर शाह ज़फ़र को देश का शासन सौंपना चाहते थे।

मेरठ के कुछ सिपाहियों की एक टोली 10 मई की रात को घोड़ों पर सवार होकर मुँह अँधेरे ही दिल्ली पहुँच गई। जैसे ही उनके आने की ख़बर फैली, दिल्ली में तैनात टुकड़ियों ने भी बगावत कर दी। यहाँ भी अंग्रेज़ अफसर मारे गए। देशी सिपाहियों ने हथियार व गोला बारूद कब्ज़े में ले लिया और इमारतों को आग लगा दी। विजयी सिपाही लाल किले की दीवारों के आसपास जमा हो गए। वे बादशाह से मिलना चाहते थे। बादशाह अंग्रेज़ों की भारी ताकत से दो–दो हाथ करने को तैयार

चित्र 5 – मंगल पांडे की स्मृति में जारी डाक टिकट

फ़िरंगी – विदेशी। इस शब्द में अपमान का भाव आता है।

© NCERT not to be republished

नहीं थे लेकिन सिपाही भी अड़े रहे। आखिरकार वे जबरन महल में घुस गए और उन्होंने बहादुर शाह ज़फ़र को अपना नेता घोषित कर दिया।

बूढ़े बादशाह को सिपाहियों की यह माँग माननी पड़ी। उन्होंने देश भर के मुखियाओं और शासकों को चिट्ठी लिखकर अंग्रेज़ों से लड़ने के लिए भारतीय राज्यों का एक संघ बनाने का आह्वान किया। बहादुर शाह के इस एकमात्र कदम के गहरे परिणाम सामने आए।

अंग्रेज़ों से पहले देश के एक बहुत बड़े हिस्से पर मुग़ल साम्राज्य का ही शासन था। ज्यादातर छोटे शासक और रजवाड़े मुग़ल बादशाह के नाम पर ही अपने इलाकों का शासन चलाते थे। ब्रिटिश शासन के विस्तार से भयभीत ऐसे बहुत सारे शासकों को लगता था कि अगर मुग़ल बादशाह दोबारा शासन स्थापित कर लें तो वे मुग़ल आधिपत्य में दोबारा अपने इलाकों का शासन बेफिक्र होकर चलाने लगेंगे।

चित्र 6 *– बहादुर शाह ज़फ़र*

अंग्रेज़ों को इन घटनाओं की उम्मीद नहीं थी। उन्हें लगता था कि कारतूसों के मुद्दे पर पैदा हुई उथल-पुथल कुछ समय में शांत हो जाएगी। लेकिन जब बहादुर शाह ज़फ़र ने बग़ावत को अपना समर्थन दे दिया तो स्थिति रातोरात बदल गई। अकसर ऐसा होता है कि जब लोगों को कोई रास्ता दिखाई देने लगता है तो उनका उत्साह और साहस बढ़ जाता है। इससे उन्हें आगे बढ़ने की हिम्मत, उम्मीद और आत्मविश्वास मिलता है।

चित्र 7 *– नाना साहेब*

बग़ावत फैलने लगी

जब दिल्ली से अंग्रेज़ों के पैर उखड़ गए तो लगभग एक हफ्ते तक कहीं कोई विद्रोह नहीं हुआ। ज़ाहिर है ख़बर फैलने में भी कुछ समय तो लगना ही था। लेकिन फिर तो विद्रोहों का सिलसिला ही शुरू हो गया।

एक के बाद एक, हर रेजिमेंट में सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया और वे दिल्ली, कानपुर व लखनऊ जैसे मुख्य बिंदुओं पर दूसरी टुकड़ियों का साथ देने को निकल पड़े। उनकी देखा-देखी कस्बों और गाँवों के लोग भी बग़ावत के रास्ते पर चलने लगे। वे स्थानीय नेताओं, ज़मींदारों और मुखियाओं के पीछे संगठित हो गए। ये लोग अपनी सत्ता स्थापित करने और अंग्रेज़ों से लोहा लेने को तैयार थे। स्वर्गीय पेशवा बाजीराव के दत्तक पुत्र नाना साहेब कानपुर के पास रहते थे। उन्होंने सेना इकट्ठा की और ब्रिटिश सैनिकों को शहर से खदेड़ दिया। उन्होंने खुद को पेशवा घोषित कर दिया। उन्होंने ऐलान किया कि वह बादशाह बहादुर शाह ज़फ़र के तहत गवर्नर हैं। लखनऊ की गद्दी से हटा दिए गए नवाब वाजिद अली शाह के बेटे बिरजिस क़द्र को नया नवाब घोषित कर दिया गया।

चित्र 8 *– जैसे-जैसे विद्रोह फैला, छावनियों में अंग्रेज़ अफ़सरों को मारा जाने लगा।*

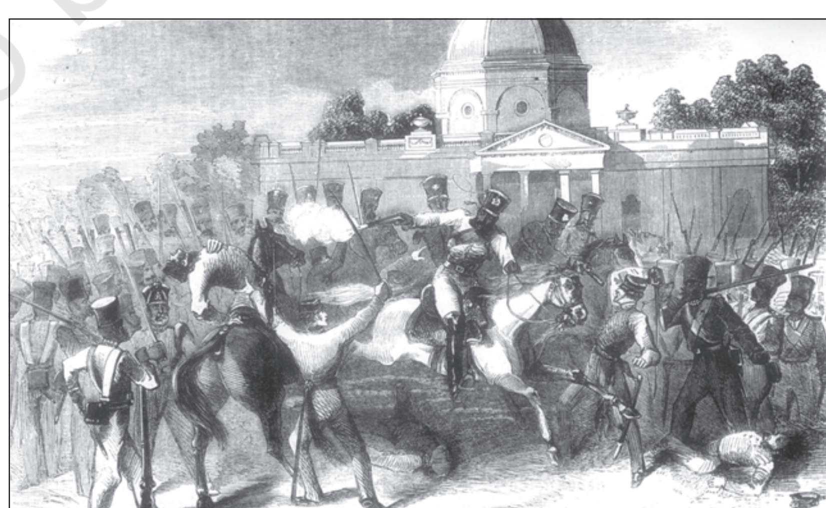

2019-2020

> **गतिविधि**
> 1. मुग़ल सम्राट विद्रोहियों का समर्थन करने के लिए क्यों तैयार हुए?
> 2. सिपाहियों के प्रस्ताव को मानने से पहले उन्होंने हालात का जो हिसाब लगाया होगा उसके बारे में एक अनुच्छेद लिखें।

चित्र 9 – रानी लक्ष्मीबाई

चित्र 10 – वीर कुँवर सिंह

बिरजिस क़द्र ने भी बहादुर शाह ज़फ़र को अपना बादशाह मान लिया। उनकी माँ बेगम हज़रत महल ने अंग्रेज़ों के खिलाफ़ विद्रोहों को बढ़ावा देने में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। झाँसी में रानी लक्ष्मीबाई भी विद्रोही सिपाहियों के साथ जा मिलीं। उन्होंने नाना साहेब के सेनापति ताँत्या टोपे के साथ मिलकर अंग्रेज़ों को भारी चुनौती दी। मध्यप्रदेश के मांडला क्षेत्र में, राजगढ़ की राजी अवन्ति बाई लोधी ने 4,000 सैनिकों की फौज तैयार की और अंग्रेजों के खिलाफ उसका नेतृत्व किया क्योंकि ब्रिटिश शासन ने उनके राज्य के प्रशासन पर नियंत्रण कर लिया था।

विद्रोही टुकड़ियों के सामने अंग्रेज़ों की संख्या बहुत कम थी। बहुत सारे मोर्चों पर उनकी जबरदस्त हार हुई। इससे लोगों को यक़ीन हो गया कि अब अंग्रेज़ों का शासन खत्म हो चुका है। अब लोगों को विद्रोहों में कूद पड़ने का गहरा आत्मविश्वास मिल गया था। खासतौर से अवध के इलाके में चौतरफा बग़ावत की स्थिति थी। 6 अगस्त 1857 को लेफ्टिनेंट कर्नल टाइटलर ने अपने कमांडर-इन-चीफ़ को टेलीग्राम भेजा जिसमें उसने अंग्रेज़ों के भय को व्यक्त किया था : "हमारे लोग विरोधियों की संख्या और लगातार लड़ाई से थक गए हैं। एक-एक गाँव हमारे खिलाफ़ है। ज़मींदार भी हमारे खिलाफ़ खड़े हो रहे हैं।"

इस दौरान बहुत सारे महत्वपूर्ण नेता सामने आए। उदाहरण के लिए, फ़ैज़ाबाद के मौलवी अहमदुल्ला शाह ने भविष्यवाणी कर दी कि अंग्रेज़ों का शासन जल्दी ही खत्म हो जाएगा। वह समझ चुके थे कि जनता क्या चाहती है। इसी आधार पर उन्होंने अपने समर्थकों की एक विशाल संख्या जुटा ली। अपने समर्थकों के साथ वे भी अंग्रेज़ों से लड़ने लखनऊ जा पहुँचे। दिल्ली में अंग्रेज़ों का सफ़ाया करने के लिए बहुत सारे ग़ाज़ी यानी धर्मयोद्धा इकट्ठा हो गए थे। बरेली के सिपाही बख्त खान ने लड़ाकों की एक विशाल टुकड़ी के साथ दिल्ली की ओर कूच कर दिया। वह इस बगावत में एक मुख्य व्यक्ति साबित हुए। बिहार के एक पुराने ज़मींदार कुँवर सिंह ने भी विद्रोही सिपाहियों का साथ दिया और महीनों तक अंग्रेज़ों से लड़ाई लड़ी। तमाम इलाकों के नेता और लड़ाके इस युद्ध में हिस्सा ले रहे थे।

चित्र 11 – ब्रिटिश टुकड़ियाँ विद्रोहियों पर हमला करती हैं जिन्होंने दिल्ली के लाल क़िले (दाएँ) तथा सलीमगढ़ किले (बाएँ) पर कब्ज़ा किया हुआ था।

2019-2020

कंपनी का पलटवार

चित्र 12 : विद्रोही सिपाही मेरठ से दिल्ली की तरफ कूच करते हैं।

शुरू में, अंग्रेज़ी सेनाओं को दिल्ली की भारी किले-बंदी को तोड़ने में मुश्किल हुई। 3 सितंबर 1857 को अंग्रेज़ी सेनाओं को और ज्यादा हथियार गोले आदि पहुंचाये गए। ये गाड़ियों पर लदे हुए थे जिन्हें हाथी खींच रहे थे और इनकी कतार 7 मील लंबी थी।

इस उथल-पुथल के बावजूद अंग्रेज़ों ने हिम्मत नहीं छोड़ी। कंपनी ने अपनी पूरी ताकत लगाकर विद्रोह को कुचलने का फैसला लिया। उन्होंने इंग्लैंड से और फ़ौजी मँगवाए, विद्रोहियों को जल्दी सज़ा देने के लिए नए कानून बनाए और विद्रोह के मुख्य केंद्रों पर धावा बोल दिया। सितंबर 1857 में दिल्ली दोबारा अंग्रेज़ों के कब्ज़े में आ गई। अंतिम मुग़ल बादशाह बहादुर शाह ज़फ़र पर मुकदमा चलाया गया और उन्हें आजीवन कारावास की सजा दी गई। उनके बेटों को उनकी आँखों के सामने गोली मार दी गई। बहादुर शाह और उनकी पत्नी बेगम ज़ीनत महल को अक्तूबर 1858 में रंगून जेल में भेज दिया गया। इसी जेल में नवंबर 1862 में बहादुर शाह ज़फ़र ने अंतिम साँस ली।

दिल्ली पर अंग्रेज़ों का कब्ज़ा हो जाने का यह मतलब नहीं था कि विद्रोह खत्म हो चुका था। इसके बाद भी लोग अंग्रेज़ों से टक्कर लेते रहे। व्यापक बगावत की विशाल ताकत को कुचलने के लिए अंग्रेज़ों को अगले दो साल तक लड़ाई लड़नी पड़ी।

मार्च 1858 में लखनऊ अंग्रेज़ों के कब्ज़े में चला गया। जून 1858 में रानी लक्ष्मीबाई की शिकस्त हुई और उन्हें मार दिया गया। दुर्भाग्यवश, ऐसा ही रानी अवन्ति बाई लोधी के साथ हुआ। खेड़ी की शुरुआती विजय के बाद उन्होंने अपने आप को अंग्रेजी फौज से घिरा पाया और वे शहीद हो गईं।

ताँत्या टोपे मध्य भारत के जंगलों में रहते हुए आदिवासियों और किसानों की सहायता से छापामार युद्ध चलाते रहे।

जिस तरह पहले अंग्रेज़ों के खिलाफ़ मिली सफलताओं से विद्रोहियों को उत्साह मिला था उसी तरह विद्रोही ताकतों की हार से लोगों की हिम्मत टूटने लगी। बहुत सारे लोगों ने विद्रोहियों का साथ छोड़ दिया। अंग्रेज़ों ने भी लोगों का विश्वास जीतने के लिए हर संभव प्रयास किया। उन्होंने वफ़ादार

चित्र 13 : तात्या टोपे की स्मृति में जारी डाक टिकट

गतिविधि

उन स्थानों की सूची बनाएँ जहाँ 1857 के मई, जून और जुलाई महीनों में विद्रोह हुए।

© NCERT not to be republished

चित्र 14- अंग्रेज़ टुकड़ियाँ दिल्ली में घुसने के लिए कश्मीरी गेट को बारूद से उड़ा देती हैं।

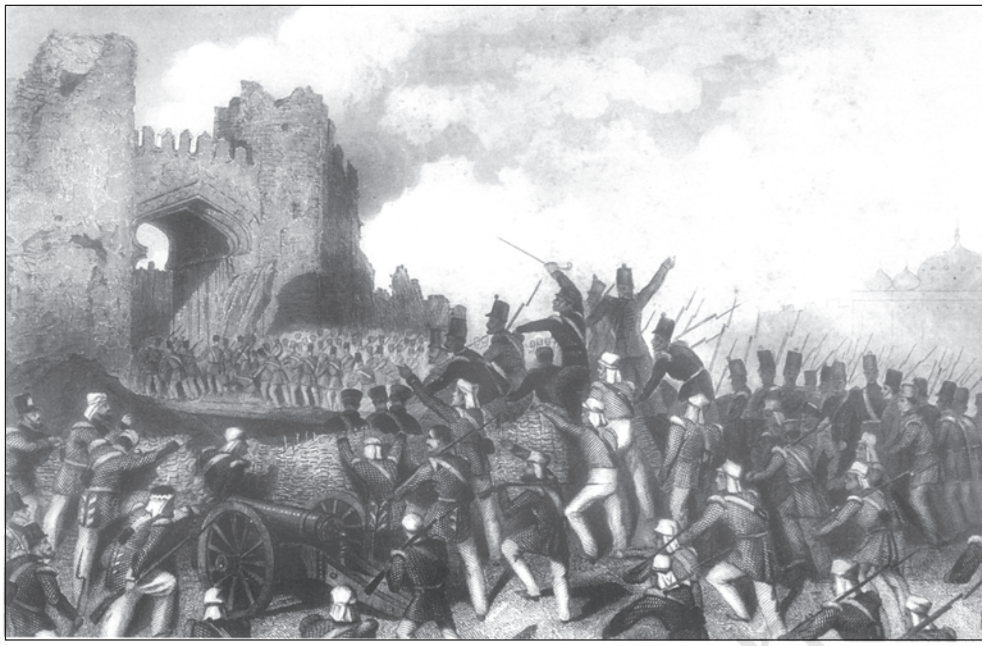

भूस्वामियों के लिए ईनामों का ऐलान कर दिया। उन्हें आश्वासन दिया गया कि उनकी ज़मीन पर उनके परंपरागत अधिकार बने रहेंगे। जिन्होंने विद्रोह किया था उनसे कहा गया कि अगर वे अंग्रेज़ों के सामने समर्पण कर देते हैं और अगर उन्होंने किसी अंग्रेज़ की हत्या नहीं की है तो वे सुरक्षित रहेंगे और ज़मीन पर उनके अधिकार और दावेदारी बनी रहेगी। इसके बावजूद सैकड़ों सिपाहियों, विद्रोहियों, नवाबों और राजाओं पर मुक़दमे चलाए गए और उन्हें फाँसी पर लटका दिया गया।

चित्र 15 - अंग्रेज़ टुकड़ियाँ कानपुर के पास विद्रोहियों को पकड़ लेती हैं।

ध्यान से देखें कि किस तरह कलाकार ने अंग्रेज़ सिपाहियों को बहादुरी से विद्रोहियों पर धावा बोलते हुए दिखाया है।

विद्रोह के बाद के साल

अंग्रेज़ों ने 1859 के आखिर तक देश पर दोबारा नियंत्रण पा लिया था लेकिन अब वे पहले वाली नीतियों के सहारे शासन नहीं चला सकते थे।

अंग्रेज़ों ने जो अहम बदलाव किए वे निम्नलिखित हैं :

1. ब्रिटिश संसद ने 1858 में एक नया कानून पारित किया और ईस्ट इंडिया कंपनी के सारे अधिकार ब्रिटिश साम्राज्य के हाथ में सौंप दिए ताकि भारतीय मामलों को ज्यादा बेहतर ढंग से सँभाला जा सके। ब्रिटिश मंत्रिमंडल के एक सदस्य को भारत मंत्री के रूप में नियुक्त किया गया। उसे भारत के शासन से संबंधित मामलों को सँभालने का जिम्मा सौंपा गया। उसे सलाह देने के लिए एक परिषद का गठन किया गया जिसे इंडिया काउंसिल कहा जाता था। भारत के गवर्नर-जनरल को वायसराय का ओहदा दिया गया। इस प्रकार उसे इंगलैंड के राजा/रानी का निजी प्रतिनिधि घोषित कर दिया गया। फलस्वरूप, अंग्रेज़ सरकार ने भारत के शासन की ज़िम्मेदारी सीधे अपने हाथों में ले ली।

2. देश के सभी शासकों को भरोसा दिया गया कि भविष्य में कभी भी उनके भूक्षेत्र पर कब्ज़ा नहीं किया जाएगा। उन्हें अपनी रियासत अपने वंशजों, यहाँ तक कि दत्तक पुत्रों को सौंपने की छूट दे दी गई। लेकिन उन्हें इस बात के लिए प्रेरित किया गया कि वे ब्रिटेन की रानी को अपना अधिपति स्वीकार करें। इस तरह, भारतीय शासकों को ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन शासन चलाने की छूट दी गई।

3. सेना में भारतीय सिपाहियों का अनुपात कम करने और यूरोपीय सिपाहियों की संख्या बढ़ाने का फैसला लिया गया। यह भी तय किया गया कि अवध, बिहार, मध्य भारत और दक्षिण भारत से सिपाहियों को भर्ती करने की बजाय अब गोरखा, सिखों और पठानों में से ज़्यादा सिपाही भर्ती किए जाएँगे।

4. मुसलमानों की ज़मीन और संपत्ति बड़े पैमाने पर ज़ब्त की गई। उन्हें संदेह व शत्रुता के भाव से देखा जाने लगा। अंग्रेज़ों को लगता था कि यह विद्रोह उन्होंने ही खड़ा किया था।

5. अंग्रेज़ों ने फ़ैसला किया कि वे भारत के लोगों के धर्म और सामाजिक रीति-रिवाजों का सम्मान करेंगे।

6. भूस्वामियों और ज़मींदारों की रक्षा करने तथा ज़मीन पर उनके अधिकारों को स्थायित्व देने के लिए नीतियाँ बनाई गईं।

इस प्रकार, 1857 के बाद इतिहास का एक नया चरण शुरू हुआ।

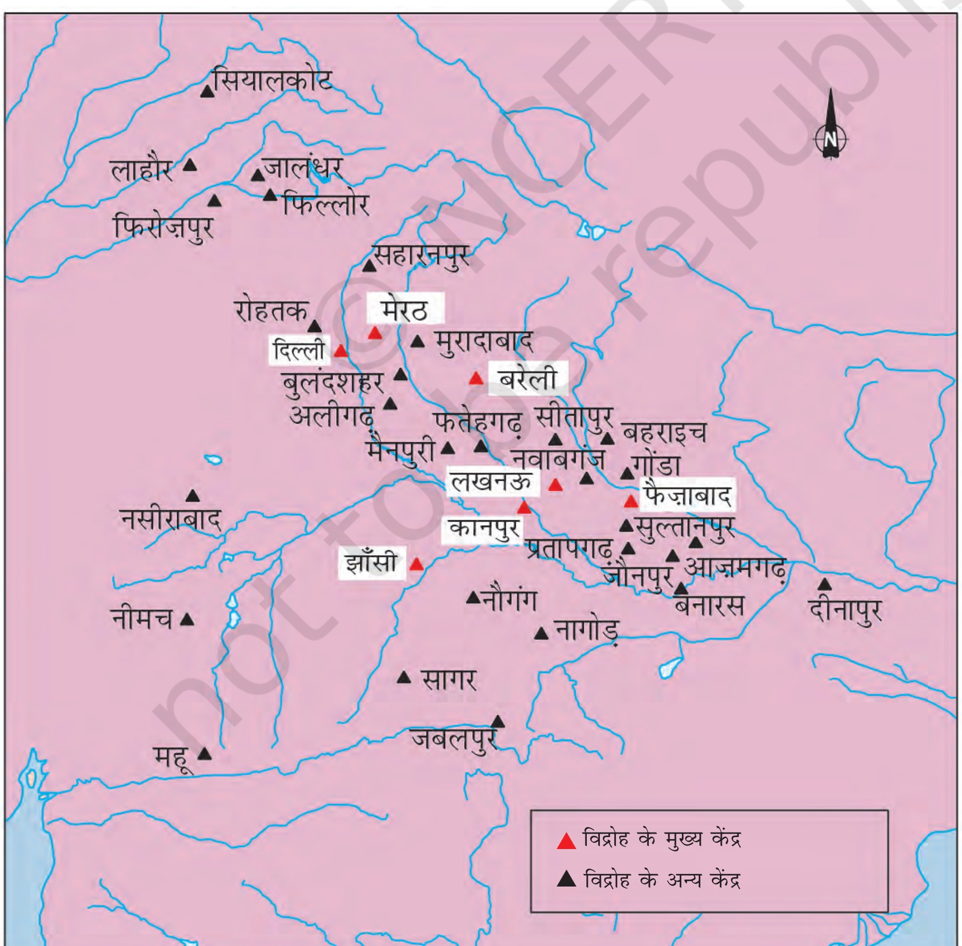

चित्र 16 – उत्तरी भारत में विद्रोह के कुछ प्रमुख केंद्र।

© NCERT not to be republished

"खुर्दा संग्राम - एक केस स्टडी"

1857 की घटना से बहुत पहले, उसी प्रकार की एक घटना सन् 1817 में खुर्दा नामक स्थान पर घटित हुई थी। हमारे लिये उस घटना का अध्ययन करना और इस बात पर विचार करना भी शिक्षाप्रद होगा कि कैसे अंग्रेजों की औपनिवेशिक नीतियों के खिलाफ 19वीं सदी की शुरुआत से ही देश के विभिन्न हिस्सों में असंतोष निर्मित होने लगा था।

खुर्दा, जो कि ओडिशा के दक्षिण-पूर्वी भाग में स्थित एक छोटा राज्य था, वह 19वीं शताब्दी की शुरुआत में 105 गढ़ों, जिनमें 60 बड़े और 1109 छोटे गांव सम्मिलित थे, एक जनबहुल उपजाऊ क्षेत्र था। इसके शासक, राजा बीरकिशोर देव को स्व अधिकृत चार परगनाओं को तथा जगन्नाथ मंदिर के संचालन अधिकार समेत 14 गढ़जातों के प्रशासनिक उत्तरदायित्व को पूर्व में दबाव में आकर मराठाओं को सौंप देना पड़ा था। उनके पुत्र तथा उत्तराधिकारी, मुकुंद देव (द्वितीय) इस दुर्दशा से विचलित थे। अत: अंग्रेजों और मराठों के बीच जारी संघर्ष में अपने लिए एक मौका देखते हुए उन्होंने अपने खोए हुए क्षेत्रों तथा जगन्नाथ मंदिर की देख-रेख से संबंधित अधिकारों की पुन: प्राप्ति हेतु अंग्रेजों के साथ सलाह मशवरा शुरू कर दिया था। परंतु 1803 में ओडिशा को अपने कब्जे में लेने के बाद अंग्रेजों ने उन्हें इन दोनों मुद्दों में से किसी पर भी सकारात्मक कार्यवाही करने की दिशा में कोई रुचि नहीं दिखाई। परिणामत: ओडिशा के दूसरे सामंत राजाओं के साथ मिलकर तथा मराठाओं के गुप्त समर्थन से उन्होंने जबरन अपने अधिकारों को लागू करने का प्रयास किया। इसकी वजह से उन्हें अपने पद से विस्थापित होना पड़ा तथा अंग्रेजों ने उनके राज्य को अपने में मिला लिया। सांत्वना के रूप में एक नियमित अनुदान के साथ, जो कि उनकी पूर्व भूसंपत्ति के राजस्व का मात्र एक दशमांस था, अंग्रेजों ने उन्हें जगन्नाथ मंदिर की देख-रेख का दायित्व दिया तथा उनका निवास पुरी में निश्चित कर दिया। इस अनैतिक व्यवस्था से ओडिशा में दमनकारी विदेशी शासन के एक ऐसे युग का प्रारंभ हुआ जिसने 1817 में एक गंभीर सशस्त्र संग्राम का मार्ग प्रशस्त किया।

खुर्दा को अपने अधीन करने के तुरंत बाद अंग्रेजों ने राजस्व निवृत ज़मीन पर कर लगाने की नीति अपनाई। इसमें राज्य के पूर्व सैनिक वर्ग, जिन्हें 'पाइक' के नाम से जाना जाता था, उनका जीवन बुरी तरह से प्रभावित हुआ। इस नीति की भयावहता राजस्व की माँग में अनुचित वृद्धि और इस संग्रह के दमनकारी तरीकों से और बढ़ गई थी। इस कार्यवाही के फलस्वरूप 1805 और 1817 के बीच में खुर्दा से बड़े पैमाने पर लोग ज़मीन छोड़कर चले गए। फिर भी अंग्रेजों ने अस्थायी बंदोबस्त के तहत राजस्व भुगतान की नीति को चालू रखा जिसमें ज़मीन की उपजाऊ क्षमता तथा रैयतों की भुगतान की क्षमता की अनदेखी करते हुए हर वर्ष राजस्व की माँगों में वृद्धि की गई। यहाँ तक कि प्राकृतिक आपदाओं के समय में भी कोई उदारता नहीं दिखाई गई जबकि ओडिशा में ऐसी आपदाएँ अक्सर आती रहती थीं। बकायादारों की जमीन को षड्यंत्रकारी राजस्व अधिकारियों या फिर बंगाल के सट्टेबाजों को बेच दिया गया।

खुर्दा के विस्थापित राजा का वंशानुगत सेनानायक, जगबंधु विद्याधर महापात्र भ्रमरवर राय, जिन्हें लोग बक्सी जगबंधु के नाम से जानते थे, वह ऐसे बेदखल हुए ज़मींदारों में से एक थे। व्यावहारिक रूप से वे एक भिखारी बन गए थे। अपने तथा अपने जैसे जमीन से बेदखल हुए लोगों की ओर से संघर्ष करने का निश्चय करने से पूर्व प्राय: दो साल तक उन्होंने खुर्दा के लोगों के स्वैच्छिक दान से अपना गुज़ारा किया। बीते हुए वर्ष के साथ-साथ जो तकलीफ़ें इन शिकायतों के साथ जुड़ गई थीं, वे थीं–(क) अंग्रेजों द्वारा इस क्षेत्र में चाँदी के सिक्कों का प्रचलन, (ख) इस नई मुद्रा में राजस्व के भुगतान पर जोर देना, (ग) खाद्य-सामग्री की कीमतों में अभूतपूर्व वृद्धि तथा नमक की आपूर्ति में कमी जो कि कंपनी के एकाधिकार नीति के चलते लगभग दुर्लभ हो गया था और जिसके कारण ओडिशा के पारंपरिक रूप से नमक बनाने वाले इस काम से वंचित हो गए थे, और (घ) स्थानीय ज़मींदारियों की कलकत्ता में नीलामी जिसके कारण ओडिशा में बंगाल के अनुपस्थित ज़मींदारों का आगमन हुआ। इसके अतिरिक्त असंवेदनशील तथा भ्रष्ट पुलिस प्रशासनिक व्यवस्था ने भी स्थिति को और दुष्कर बना दिया जिसके चलते होने वाले सशस्त्र संग्राम ने और भयावह आकार धारण कर लिया।

29 मार्च, 1817 को इस संग्राम की शुरुआत तब हो गई जब पाइकों ने बानपुर में स्थित पुलिस चौकी और अन्य सरकारी संस्थानों पर हमला कर दिया और सौ से अधिक लोगों की हत्या करने के साथ-साथ सरकारी खजाने में से एक बड़ी रकम लेकर चले गए। शीघ्र ही खुर्दा को केंद्र करते हुए इस घटना की लहर अलग-अलग दिशाओं में फैल गई।

2019-2020

उत्साह से भरपूर ज़मींदार और रैयत, पाइकों के साथ मिल गए। जो उनके साथ नहीं मिले उन्हें प्रताड़ित किया गया। एक ''कर मत दो'' अभियान भी शुरू किया गया। अंग्रेजों ने पाइकों को उनके जमे हुए स्थान से हटाने की कोशिश की, परंतु असफल रहे। 14 अप्रैल 1817 को बक्सी जगबंधु ने 5 से 10 हजार पाइकों और कंध जनजाति के योद्धओं की अगवाही कर पुरी को कब्जे में ले लिया और मुकंद देव (द्वितीय) को उनकी झिझक के बावजूद राजा घोषित कर दिया। जगन्नाथ मंदिर के पुजारियों ने भी पाइकों को अपना भरपूर समर्थन प्रदान किया।

स्थिति को हाथ से निकलते हुए देख अंग्रेजों ने ''मार्शल लॉ'' लागू कर दिया। जल्द ही घोषित राजा पकड़े गए और उन्हें उनके पुत्र सहित कटक में कारावास दे दिया गया। बक्सी ने, अपने करीबी सहयोगी, कृष्ण चंद्र भ्रमरवर राय के साथ मिलकर कटक और खुर्दा के बीच यातायात के सारे माध्यम को काटने का प्रयास किया। इसके साथ-साथ संघर्ष ओडिशा के दक्षिण और उत्तर-पश्चिमी हिस्सों में फैल गया। परिणामस्वरूप अंग्रेजों ने मेजर-जनरल मार्टिनडल को पाइकों के चंगुल से पूरे क्षेत्र को मुक्त कराने के लिए भेजा तथा बक्सी जगबंधु और उनके साथियों को पकड़वाने के लिए पुरस्कार की भी घोषणा की। इस प्रकार जो सामरिक कार्रवाई चली उसमें सैकड़ों पाइक मारे गए, कई घने जंगलों में चले गए और अन्य सामूहिक क्षमा योजना के तहत अपने घरों में लौट गए। इस तरह से अंग्रेजों ने मई 1817 तक खुर्दा के संग्राम को लगभग काबू में कर लिया।

परंतु खुर्दा के बाहरी क्षेत्रों में बक्सी जगबंधु ने कुजंग के राजा जैसे सहयोगी की मदद से और पाइकों के उनके प्रति अटूट निष्ठा के कारण इस संघर्ष को मई 1825 तक जारी रखा, जब उन्होंने अंग्रेजों के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। इसके उपरांत अंग्रेजों ने खुर्दा के लोगों के प्रति अपनी ओर से 'दयालु, अनुग्रहित और सहनशीलता' की नीति अपनाई। पुलिस और न्यायिक व्यवस्था में आवश्यक सुधार किया। नमक की कीमतों में कमी की गई। जिन राजस्व अधिकारियों को भ्रष्ट पाया गया उन्हें कार्य से निष्कासित कर दिया और बेदखल ज़मींदारों को अपनी ज़मीन लौटा दी गई। दिवंगत खुर्दा के राजा के पुत्र रामचंद्र देव (तृतीय) को स्वतंत्र कर पुरी जाने दिया गया और 26,000 रुपये के अनुदान के साथ उन्हें जगन्नाथ मंदिर की देख-रेख का दायित्व भी सौंपा गया।

संक्षेप में, यह ओडिशा में अंग्रेजों के विरुद्ध पहला लोकप्रिय सशस्त्र संघर्ष था जिसका उस क्षेत्र में ब्रिटिश शासन पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। अत: इसे मात्र 'पाइक विद्रोह' कहना, इसे कमतर कर आँकना होगा।

अन्यत्र

परम शांति के एक स्वर्गिक साम्राज्य की खातिर

चित्र 11 – ताइपिंग की सेना अपने नेता से मिलते हुए

जब 1857 में भारत में विद्रोह फैला उसी समय चीन के दक्षिणी भागों में भी एक विशाल जनविद्रोह पैदा हो रहा था। यह विद्रोह 1850 में शुरू हुआ और 1860 के मध्य में जाकर खत्म हुआ। हाँग जिकुआंग के नेतृत्व में हज़ारों मेहनतकश, गरीब लोगों ने परम शांति के स्वर्गिक साम्राज्य की स्थापना के लिए लड़ाई लड़ी। इस विद्रोह को ताइपिंग विद्रोह के नाम से जाना जाता है।

हाँग जिकुआंग ने धर्मांतरण करके ईसाई धर्म अपना लिया था और वह कन्फ़्यूशियसवाद और बौद्ध आदि परंपरागत चीनी धर्मों के खिलाफ़ थे। ताइपिंग के विद्रोही एक ऐसे साम्राज्य की स्थापना करना चाहते थे जहाँ ईसाई धर्म को माना जाएगा, जहाँ किसी के पास निजी संपत्ति नहीं होगी, जहाँ सामाजिक वर्गों और स्त्री-पुरुष के बीच कोई भेद नहीं होगा, जहाँ अफ़ीम, तंबाकू, शराब के सेवन तथा जुए, वेश्यावृति और गुलामी पर पाबंदी होगी।

चीन में तैनात अंग्रेज़ और फ़्रांसीसी सेनाओं ने ताइपिंग विद्रोह को दबाने के लिए किंग (Qing) साम्राज्य के बादशाह को काफी मदद दी।

2019-2020

आइए कल्पना करें

कल्पना कीजिए कि आप विद्रोह के दौरान अवध में तैनात ब्रिटिश अधिकारी हैं। विद्रोहियों से लड़ाई की अपनी योजनाओं को गुप्त रखने के लिए आप क्या करेंगे?

फिर से याद करें

1. झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई की अंग्रेज़ों से ऐसी क्या माँग थी जिसे अंग्रेज़ों ने ठुकरा दिया?
2. ईसाई धर्म अपनाने वालों के हितों की रक्षा के लिए अंग्रेज़ों ने क्या किया?
3. सिपाहियों को नए कारतूसों पर क्यों ऐतराज़ था?
4. अंतिम मुग़ल बादशाह ने अपने आखिरी साल किस तरह बिताए?

आइए विचार करें

5. मई 1857 से पहले भारत में अपनी स्थिति को लेकर अंग्रेज़ शासकों के आत्मविश्वास के क्या कारण थे?
6. बहादुर शाह ज़फ़र द्वारा विद्रोहियों को समर्थन दे देने से जनता और राज-परिवारों पर क्या असर पड़ा?
7. अवध के बागी भूस्वामियों से समर्पण करवाने के लिए अंग्रेज़ों ने क्या किया?
8. 1857 की बग़ावत के फलस्वरूप अंग्रेज़ों ने अपनी नीतियाँ किस तरह बदलीं?

चित्र 17 – लखनऊ रेज़िडेंसी के खण्डहर।
जून 1857 में विद्रोही टुकड़ियों ने रेजिडेंसी को कब्ज़े में ले लिया। बहुत सारी अंग्रेज़ औरतों, मर्दों और बच्चों ने रेजिडेंसी की इमारतों में पनाह ली हुई थी। विद्रोहियों ने इस पूरे परिसर को घेरकर उन पर गोलों से हमला किया। इसी तरह के एक गोले से अवध के चीफ़ कमिश्नर हेनरी लॉरेंस की भी मौत हो गई थी। हेनरी लॉरेंस जिस कमरे में मरे वह इस चित्र में दिखाई दे रहा है। ग़ौर से देखें कि इमारतों पर बीते दौर के निशान किस तरह बचे रह जाते हैं।

आइए करके देखें

9. पता लगाएँ कि सन सत्तावन की लड़ाई के बारे में आपके इलाके या आपके परिवार के लोगों को किस तरह की कहानियाँ और गीत याद हैं? इस महान विद्रोह से संबंधित कौन सी यादें अभी लोगों को उत्तेजित करती हैं?
10. झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के बारे में और पता लगाएँ। आप उन्हें अपने समय की एक विलक्षण महिला क्यों मानते हैं?

2019-2020

6 बुनकर, लोहा बनाने वाले और फैक्ट्री मालिक

0865CH06

चित्र 1 – सत्रहवीं सदी में सूरत बंदरगाह पर व्यापारिक जहाज़।
भारत के पश्चिमी तट पर गुजरात स्थित सूरत हिंद महासागर के रास्ते होने वाले व्यापार के सबसे महत्त्वपूर्ण बंदरगाहों में से एक था। डच और ब्रिटिश व्यापारिक जहाज़ सत्रहवीं सदी की शुरुआत से ही इस बंदरगाह का इस्तेमाल करने लगे थे। अठारहवीं सदी में इस बंदरगाह का महत्त्व गिरने लगा।

इस अध्याय में हम कपड़ा और लोहा व इस्पात उद्योग, इन दो उद्योगों का विशेष अध्ययन करते हुए देखेंगे कि ब्रिटिश शासन के अंतर्गत भारतीय कारीगरी और उद्योगों की दशा क्या थी। आधुनिक विश्व में औद्योगिक क्रांति की दृष्टि से ये दोनों ही उद्योग बहुत महत्त्वपूर्ण थे। सूती कपड़े के मशीनी उत्पादन ने ही उन्नीसवीं सदी में ब्रिटेन को दुनिया का सबसे प्रमुख औद्योगिक राष्ट्र बना दिया था। 1850 के दशक से जब ब्रिटेन का लोहा और इस्पात उद्योग भी पनपने लगा तो ब्रिटेन "दुनिया का कारखाना" कहलाने लगा।

ब्रिटेन के औद्योगीकरण और भारत पर ब्रिटिश विजय और उपनिवेशीकरण में गहरा संबंध था। आप अध्याय 2 में देख चुके हैं कि ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापारिक हितों की रक्षा करने के लिए किस तरह भारतीय भूभागों पर क़ब्ज़े हुए और किस तरह व्यापार का ढाँचा बदलता गया। अठारहवीं सदी के आखिर में ईस्ट इंडिया कम्पनी भारत से चीज़ें खरीदती थी और उन्हें इंग्लैंड व यूरोप में ले जाकर बेच देती थी। इसी क्रय-विक्रय से उसे भारी मुनाफा होता था। जैसे-जैसे ब्रिटेन का औद्योगिक उत्पादन बढ़ने लगा, वहाँ के उद्योगपति भारत को अपने औद्योगिक उत्पादों के विशाल बाज़ार के रूप में देखने लगे। इस तरह, ब्रिटेन से तैयार माल भारत के बाज़ारों में आने लगा। इससे भारतीय शिल्पों और उद्योगों पर किस तरह के असर पड़े? प्रस्तुत अध्याय में हम इसी सवाल पर चर्चा करेंगे।

भारतीय कपड़े और विश्व बाज़ार

चित्र 2 – पटोला बुनाई, उन्नीसवीं सदी के मध्य में।

पटोला बुनाई सूरत, अहमदाबाद और पाटन में होती थी। इंडोनेशिया में इस बुनाई का भारी बाज़ार था और वहाँ यह स्थानीय बुनाई परंपरा का हिस्सा बन गई थी।

आइए पहले कपड़ा उत्पादन पर नज़र डालें।

बंगाल पर अंग्रेज़ों की विजय से पहले 1750 के आस-पास भारत पूरी दुनिया में कपड़ा उत्पादन के क्षेत्र में औरों से कोसों आगे था। भारतीय कपड़े लंबे समय से अपनी गुणवत्ता और बारीक कारीगरी के लिए दुनिया भर में मशहूर थे। दक्षिण-पूर्वी एशिया (जावा, सुमात्रा और पेनांग) तथा पश्चिमी एवं मध्य एशिया में इन कपड़ों का भारी व्यापार था। सोलहवीं शताब्दी से यूरोप की व्यापारिक कम्पनियाँ यूरोप में बेचने के लिए भारतीय कपड़े खरीदने लगी थीं। इस फलते-फूलते व्यापार और भारतीय बुनकरों के हुनर की यादें अंग्रेज़ी और अन्य भाषाओं के बहुत सारे शब्दों में आज भी जिंदा हैं। ऐसे शब्दों की जड़ों को ढूँढ़ना और उनके अर्थ जानना बड़ा मज़ेदार है।

शब्दों में इतिहास छिपा है

यूरोप के व्यापारियों ने भारत से आया बारीक सूती कपड़ा सबसे पहले मौजूदा ईराक के मोसूल शहर में अरब के व्यापारियों के पास देखा था। इसी आधार पर वे बारीक बुनाई वाले सभी कपड़ों को "मस्लिन" (मलमल) कहने लगे। जल्दी ही यह शब्द खूब प्रचलित हो गया। मसालों की तलाश में जब पहली बार पुर्तगाली भारत आए तो उन्होंने दक्षिण-पश्चिमी भारत में केरल के तट पर कालीकट में डेरा डाला। यहाँ से वे मसालों के साथ-साथ सूती कपड़ा भी लेते गए। कालीकट से निकले शब्द को "कैलिको" कहने लगे। बाद में हर तरह के सूती कपड़े को कैलिको ही कहा जाने लगा।

ऐसे बहुत सारे शब्द हैं जो पश्चिमी बाज़ारों में भारतीय कपड़ों की लोकप्रियता की कहानी कहते हैं। चित्र 3 में आप एक ऑर्डर बुक का पन्ना देख सकते हैं जिसे 1730 में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी ने कलकत्ता स्थित अपने नुमाइंदों के पास भेजा था।

बही के मुताबिक, उस साल कपड़े के 5,89,000 थानों का ऑर्डर मिला था। यदि आप इसी बही के पन्नों को पलटते तो आपको पता चलता कि उसमें सूती और रेशमी कपड़े की 98 किस्मों का ज़िक्र किया गया है। यूरोपीय व्यापारी उन्हें पीस गुड्स कहते थे जो आम तौर पर 20 गज लंबा और 1 गज चौड़ा थान होता था।

2019-2020

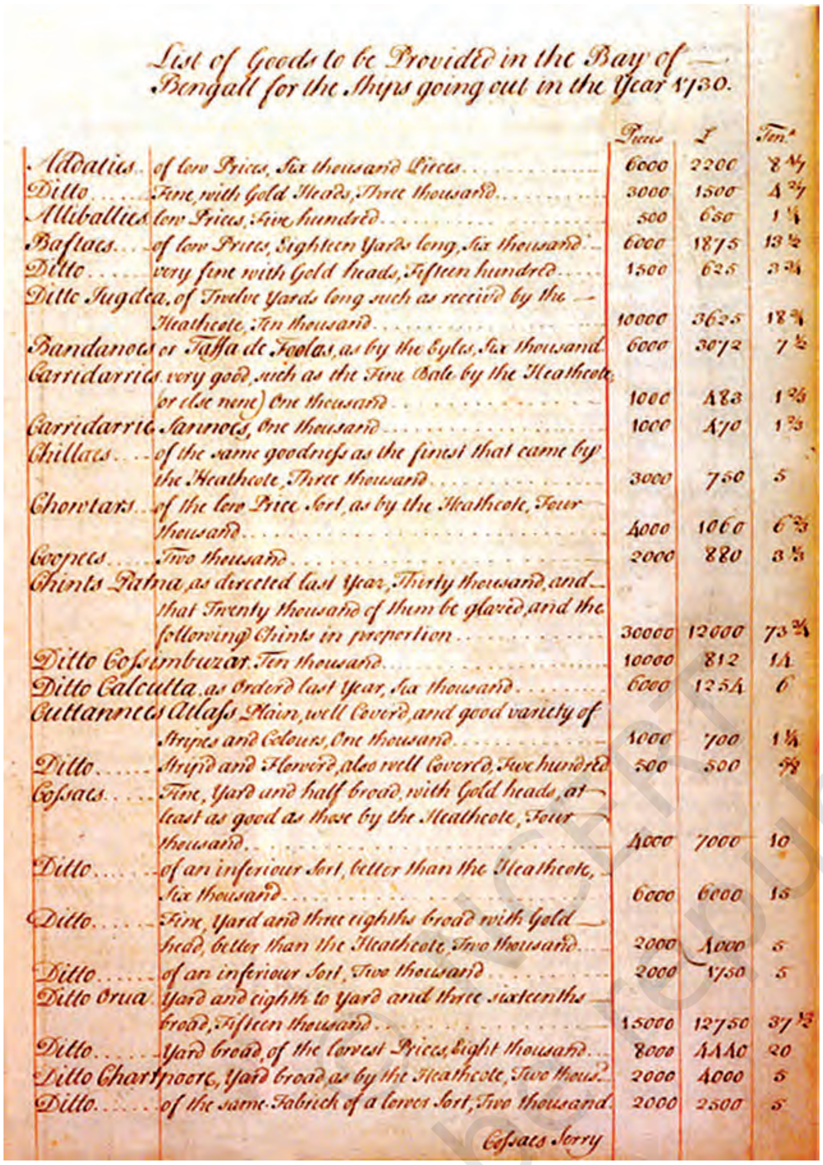

List of Goods to be Provided in the Bay of Bengall for the Ships going out in the Year 1730.

		Pieces	£	Ton.
Addaties	of low Prices, Six thousand Pieces	6000	2200	8 4/7
Ditto	Fine, with Gold Heads, Three thousand	3000	1500	4 2/7
Alliballies	low Prices, Five hundred	500	650	1 1/4
Baftaes	of low Prices, Eighteen Yards long, Six thousand	6000	1875	13 1/2
Ditto	very fine with Gold heads, Fifteen hundred	1500	625	3 3/4
Ditto Jugdea	of Twelve Yards long such as receiv'd by the Heathcote, Ten thousand	10000	3625	18 3/4
Bandanoes	or Taffa de Foolas, as by the Eyles, Six thousand	6000	3072	7 1/2
Carridarries	very good, such as the Fine Bale by the Heathcote, (or else none) One thousand	1000	483	1 2/3
Carridarrie	Sannoes, One thousand	1000	470	1 2/3
Chillaes	of the same goodness as the finest that came by the Heathcote, Three thousand	3000	750	5
Chowtars	of the low Price Sort, as by the Heathcote, Four thousand	4000	1060	6 2/3
Cooptees	Two thousand	2000	880	3 1/3
Chints Patna	as directed last Year, Thirty thousand, and that Twenty thousand of them be glazed, and the following Chints in proportion	30000	12000	73 3/4
Ditto Cossimbuzar	Ten thousand	10000	812	14
Ditto Calcutta	as Orderd last Year, Six thousand	6000	1254	6
Cuttannees	Atlass Plain, well Coverd, and good variety of Stripes and Colours, One thousand	1000	700	1 1/4
Ditto	Strip'd and Flowerd, also well Coverd, Two hundred	500	500	7/8
Cossaes	Fine, Yard and half broad, with Gold heads, at least as good as those by the Heathcote, Four thousand	4000	7000	10
Ditto	of an inferiour Sort, better than the Heathcote, Six thousand	6000	6000	15
Ditto	Fine, Yard and three eighths broad with Gold head, better than the Heathcote, Two thousand	2000	4000	5
Ditto	of an inferiour Sort, Two thousand	2000	1750	5
Ditto Orua	Yard and eighth to Yard and three sixteenths broad, Fifteen thousand	15000	12750	37 1/2
Ditto	Yard broad, of the lowest Prices, Eight thousand	8000	4440	20
Ditto Chartpoore	Yard broad as by the Heathcote, Two thous.	2000	4000	5
Ditto	of the same Fabrick of a lower Sort, Two thousand	2000	2500	5

Cossaes Sorry

चित्र 3 *– ईस्ट इंडिया कंपनी की ऑर्डर बही का एक पन्ना, 1730*

ग़ौर से देखें कि बही में किस तरह एक-एक चीज़ की कीमत लंदन में ही तय कर दी गई थी। ये सामान मँगाने के लिए कंपनी को दो साल पहले ऑर्डर देने पड़ते थे क्योंकि ऑर्डर को भारत भेजने, ज़रूरी कपड़े बनवाने और उन्हें वापस भिजवाने में इतना समय तो लग ही जाता था। जब कपड़े के थान लंदन पहुँच जाते थे तो उन्हें नीलामी के ज़रिए बेच दिया जाता था।

आइए अब इसी बही में दी गई विभिन्न किस्मों के नामों को देखें। थोक में जिन कपड़ों का ऑर्डर दिया गया था उनमें छापेदार सूती कपड़े भी शामिल थे। उन्हें ये व्यापारी शिंट्ज़, कोसा (या खस्सा) और बंडाना कहते थे। क्या आप जानते हैं कि अंग्रेज़ी का शिंट्ज़ शब्द कहाँ से आया है? जी हाँ, यह हिंदी के 'छींट' शब्द से निकला है। हमारे यहाँ छींट रंगीन फूल-पत्तियों वाले छोटे छापे के कपड़े को कहा जाता है। 1680 के दशक तक इंग्लैंड और यूरोप में छापेदार भारतीय सूती कपड़े की जबरदस्त माँग पैदा हो चुकी थी। आकर्षक फूल-पत्तियों, बारीक रेशे और सस्ती कीमत की वजह से भारतीय कपड़े का एक अलग ही रुतबा था। इंग्लैंड के रईस ही नहीं बल्कि खुद महारानी भी भारतीय कपड़ों से बने परिधान पहनती थीं।

बंडाना शब्द का इस्तेमाल गले या सिर पर पहनने वाले चटक रंग के छापेदार गुलूबन्द के लिए किया जाता है। यह शब्द हिंदी के 'बाँधना' शब्द

चित्र 4 *– जामदानी बुनाई, बीसवीं सदी की शुरुआत में।*

जामदानी एक तरह का बारीक मलमल होता है जिस पर करघे में सजावटी चिह्न बुने जाते हैं। इनका रंग प्राय: सलेटी और सफेद होता है। आमतौर पर सूती और सोने के धागों का इस्तेमाल किया जाता था जो कि इस चित्र में दिखाई दे रहा है। बंगाल में स्थित ढाका और संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) स्थित लखनऊ *जामदानी* बुनाई के सबसे महत्त्वपूर्ण केंद्र थे।

2019-2020

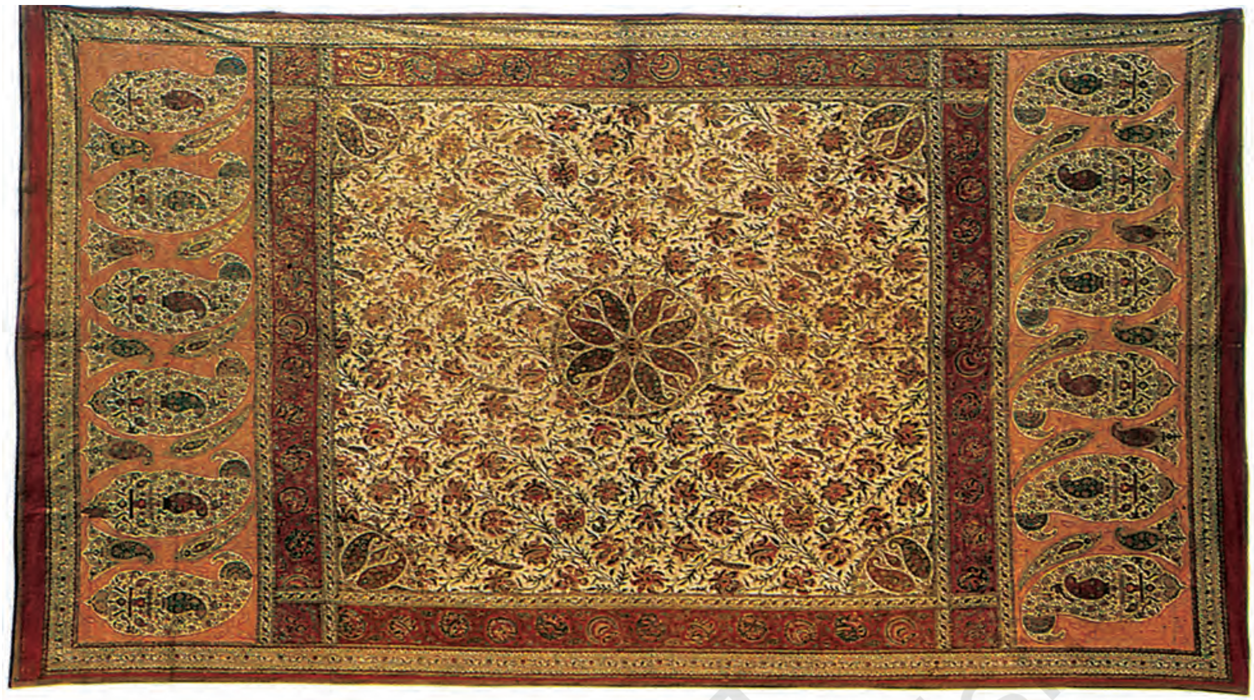

चित्र 5 – मसूलीपट्टनम, आंध्र प्रदेश में बारीक कपड़े पर छपाई (छींट), उन्नीसवीं सदी के मध्य में।

ईरान और यूरोप को निर्यात होने वाले छींट का यह बढ़िया उदाहरण है।

से निकला है। इस श्रेणी में चटक रंगों वाले ऐसी बहुत सारी किस्म के कपड़े आते थे जिन्हें बाँधने और रँगसाज़ी की विधियों से ही बनाया जाता था।

बही में कई दूसरी तरह के कपड़ों का भी ज़िक्र है जिनका नाम उनके जन्म स्थान के अनुसार लिखा गया है : कासिमबाज़ार, पटना, कलकत्ता, उड़ीसा, चारपूर आदि। इन शब्दों के व्यापक प्रयोग से पता चलता है कि दुनिया के विभिन्न भागों में भारतीय कपड़े कितने मशहूर हो चुके थे।

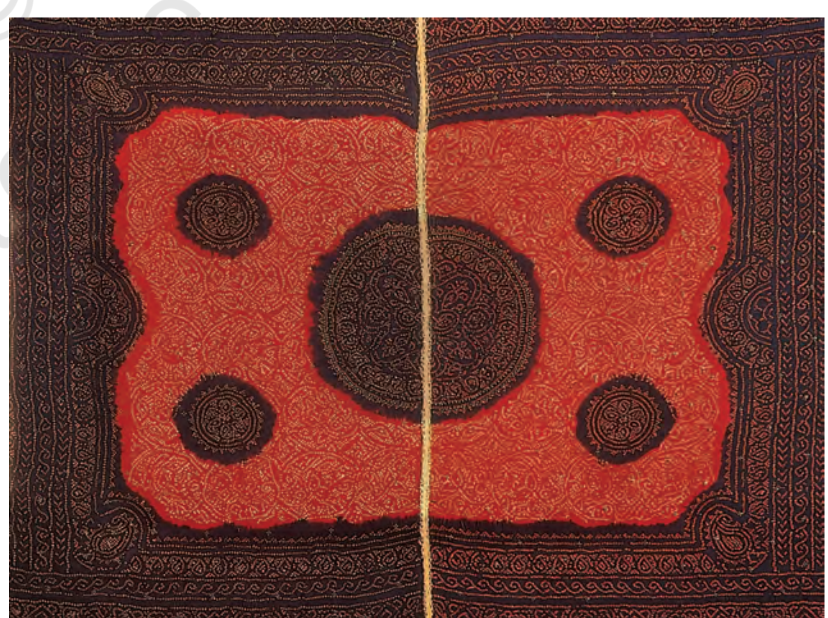

चित्र 6 – बंडाना डिजाइन, बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में।

कपड़े के मध्य से गुजरती लकीर को देखें। आप जानते हैं यह क्यों है? दरअसल, इस ओढ़नी में दो बाँध कर रँगे गये (Tie and dye) रेशमी कपड़े के टुकड़ों को सोने की कढ़ाई के ज़रिए एक-दूसरे में सीं दिया गया है। बंडाना शैली के कपड़े अधिकांशतः राजस्थान और गुजरात में बनाए जाते थे।

यूरोपीय बाज़ारों में भारतीय कपड़ा

अठारहवीं सदी की शुरुआत तक आते-आते भारतीय कपड़े की लोकप्रियता से बेचैन इंग्लैंड के ऊन व रेशम निर्माता भारतीय कपड़ों के आयात का विरोध करने लगे थे। इसी दबाव के कारण 1720 में ब्रिटिश सरकार ने इंग्लैंड में छापेदार सूती कपड़े – छींट – के इस्तेमाल पर पाबंदी लगाने के लिए एक क़ानून पारित कर दिया। संयोगवश, इस क़ानून को भी कैलिको अधिनियम ही कहा जाता था।

उस समय इंग्लैंड में नए-नए कपड़ा कारख़ाने खुल रहे थे। भारतीय कपड़ों के सामने लाचार अंग्रेज़ कपड़ा उत्पादक अपने देश में भारतीय कपड़ों के प्रवेश पर पूरी पाबंदी चाहते थे ताकि पूरे इंग्लैंड में केवल उन्हीं का कपड़ा बिके। इस क्रम में इंग्लैंड की सरकार ने सबसे पहले कैलिको छपाई उद्योग को ही सरकारी संरक्षण में विकसित किया। अब सफेद मलमल या बिना मांड वाले कोरे भारतीय कपड़े पर इंग्लैंड में ही भारतीय डिजाइन छापे जाने लगे।

भारतीय कपड़ों के साथ इस होड़ की वजह से इंग्लैंड में तकनीकी सुधारों की ज़रूरत दिखाई देने लगी थी। 1764 में जॉन के ने **स्पिनिंग जैनी** का आविष्कार किया जिससे परंपरागत तकलियों की उत्पादकता काफी बढ़ गई। 1786 में रिचर्ड आर्कराइट ने वाष्प इंजन का आविष्कार किया जिसने सूती कपड़े की बुनाई को क्रान्तिकारी रूप से बदल दिया। अब बहुत सारा कपड़ा बेहद कम कीमत पर तैयार किया जा सकता था।

इसके बावजूद, दुनिया के बाज़ारों पर भारतीय कपड़े का दबदबा अठारहवीं सदी के आखिर तक बना रहा। डच, फ़्रेंच, ब्रिटिश और अन्य यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों ने इस व्यापार से बेहिसाब मुनाफ़ा कमाया। ये कम्पनियाँ भारत आकर चाँदी के बदले सूती और रेशमी कपड़े खरीदती थीं। परंतु जैसा कि आप जानते हैं, जब इंग्लिश ईस्ट इंडिया कम्पनी को बंगाल की राजनीतिक सत्ता मिल गई तो उसे भारतीय चीज़ें खरीदने के लिए चाँदी मँगाने की ज़रूरत नहीं रही (अध्याय 2)। इसके बाद तो ईस्ट इंडिया कम्पनी भारत में ही किसानों और ज़मींदारों से राजस्व इकट्ठा करके उस पैसे से कपड़ा खरीदने लगी।

गतिविधि

आपकी राय में कैलिको अधिनियम का यह नाम 'कैलिको अधिनियम' क्यों रखा गया? इस नाम से इस बारे में क्या पता चलता है कि कौन से कपड़े पर पाबंदी लगाई जा रही थी?

स्पिनिंग जैनी – एक ऐसी मशीन जिससे एक कामगार एक साथ कई तकलियों पर काम कर सकता था। जब पहिया घूमता था तो सारी तकलियाँ घूमने लगती थीं।

***चित्र 7** – कोचीन स्थित डच बस्ती का समुद्र से दिखता दृश्य, सत्रहवीं शताब्दी में।*

जैसे-जैसे यूरोपीय व्यापार फैला, विभिन्न बंदरगाहों पर व्यापारिक बस्तियाँ भी बनने लगीं। कोचीन में डच बस्तियाँ सत्रहवीं शताब्दी में विकसित हुईं। बस्ती के चारों तरफ स्थित किलेबंदी को देखिए।

2019-2020

अठारहवीं सदी के आखिर में बुनाई के मुख्य केंद्र कहाँ-कहाँ थे?

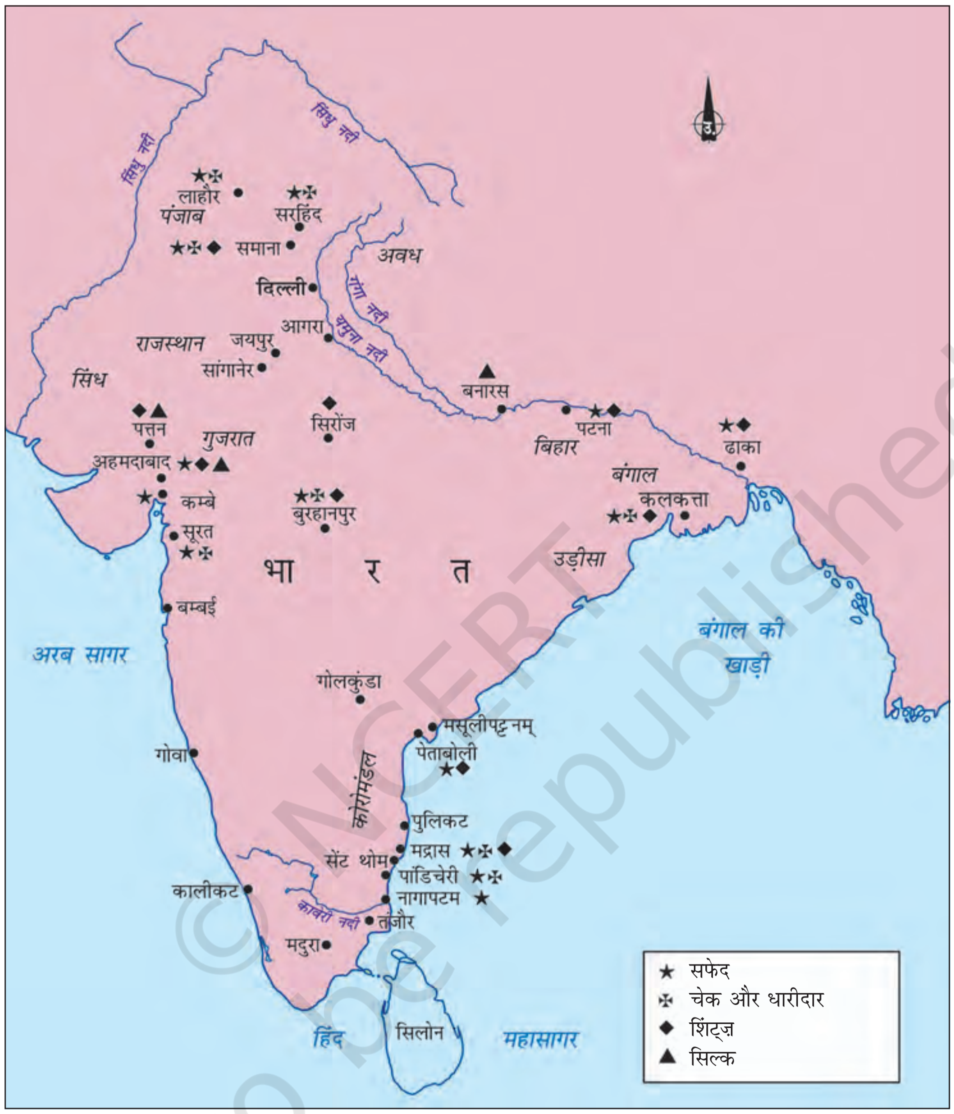

चित्र 8 – बुनाई केंद्र : 1500–1750

अगर आप इस नक्शे को देखें तो पाएँगे कि उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में कपड़ा उत्पादन चार क्षेत्रों में केंद्रित था। बंगाल सबसे महत्त्वपूर्ण केंद्रों में से एक था। डेल्टा की असंख्य नदियों से सटे बंगाल के उत्पादन केंद्र अपना माल दूर-दूर तक आसानी से भेज सकते थे। याद रखें कि उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में रेलवे की शुरुआत नहीं हुई थी और सड़कें भी अभी बननी ही शुरू हो रही थीं।

पूर्वी बंगाल (अब बांगलादेश) स्थित ढाका अठारहवीं सदी में सबसे महत्त्वपूर्ण कपड़ा उत्पादन केंद्र था। ये शहर अपनी मलमल और जामदानी बुनाई के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध था।

यदि आप नक्शे में भारत के दक्षिणी भाग को देखें तो मद्रास से उत्तरी आंध्र प्रदेश तक फैले कोरोमंडल तट के साथ-साथ सूती कपड़ा बुनाई केंद्रों का एक और समूह दिखाई पड़ेगा। पश्चिमी तट पर मुख्य बुनाई केंद्र गुजरात में स्थित थे।

© NCERT not to be republished

बुनकर कौन थे?

बुनकर आमतौर पर बुनाई का काम करने वाले समुदायों के ही कारीगर होते थे। वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसी हुनर को आगे बढ़ाते थे। बंगाल के तांती, उत्तर भारत के जुलाहे या मोमिन, दक्षिण भारत के साले व कैकोल्लार तथा देवांग समुदाय बुनकरी के लिए प्रसिद्ध थे।

सूत कातना कपड़ा उत्पादन का सबसे पहला चरण था। यह काम अधिकांशत: महिलाओं के जिम्मे रहता था। चरखा और तकली घर-घर में पाए जाते थे। धागे को चरखे पर कात कर तकली पर लपेट दिया जाता था। जब कताई पूरी हो जाती थी तो बुनकर इस धागे से कपड़े बुनते थे। ज़्यादातर समुदायों में बुनाई का काम पुरुष करते थे। रंगीन कपड़ा बनाने के लिए रँगरेज़ इस धागे को रँग देते थे। छपाईदार कपड़ा बनाने के लिए बुनकरों को चिप्पीगर नामक माहिर कारीगरों की ज़रूरत होती थी जो ठप्पे से छपाई करते थे। हथकरघों पर होने वाली बुनाई और उससे जुड़े व्यवसायों से लाखों भारतीयों की रोज़ी-रोटी चलती थी।

चित्र 9 – बंगाल का एक तांती बुनकर, बेल्जियन चित्रकार सोलविंस द्वारा बनाया गया चित्र, 1790 का दशक।

इस चित्र में तांती बुनकर गड्ढे वाले करघे में काम कर रहा है। क्या आप जानते हैं कि गड्ढे वाला करघा क्या होता है?

भारतीय कपड़े का पतन

ब्रिटेन में सूती कपड़ा उद्योग के विकास से भारतीय कपड़ा उत्पादकों पर कई तरह के असर पड़े। पहला : अब भारतीय कपड़े को यूरोप और अमरीका के बाज़ारों में ब्रिटिश उद्योगों में बने कपड़ों से मुकाबला करना पड़ता था। दूसरा : भारत से इंग्लैंड को कपड़े का निर्यात मुश्किल होता जा रहा था क्योंकि ब्रिटिश सरकार ने भारत से आने वाले कपड़े पर भारी सीमा शुल्क थोप दिए थे।

इंग्लैंड में बने सूती कपड़े ने उन्नीसवीं सदी की शुरुआत तक भारतीय कपड़े को अफ़्रीका, अमरीका और यूरोप के परंपरागत बाज़ारों से बाहर कर दिया था। इसकी वजह से हमारे यहाँ के हज़ारों बुनकर बेरोज़गार हो गए। सबसे बुरी मार बंगाल के बुनकरों पर पड़ी। ब्रिटिश और यूरोपीय कम्पनियों ने भारतीय माल खरीदने बंद कर दिए और उनके एजेंटों ने तयशुदा आपूर्ति के लिए बुनकरों को पेशगी देना बंद कर दिया था। परेशान बुनकरों ने मदद के लिए बार-बार सरकार से गुहार लगाई।

औरांग – फारसी भाषा में गोदाम को औरांग कहा जाता है। वहाँ बिक्री से पहले चीज़ों को जमा करके रखा जाता है। वर्कशॉप के लिए भी यह शब्द इस्तेमाल होता है।

स्रोत 1

"हम भूखों मर जाएँगे"

1823 में भारत की कंपनी सरकार को 12,000 बुनकरों की तरफ से एक पत्र मिला जिसमें कहा गया था कि :

हमारे पुरखे और हम लोगों को कंपनी से पेशगी मिलती थी जिससे हम कंपनी के लिए बढ़िया कपड़े बुनकर अपने-अपने परिवारों का पेट पालते थे। हमारी बदनसीबी है कि अब **औरांग** ख़त्म कर दिए गए हैं जिसकी वजह से हम लोगों और हमारे परिवारों के पास आजीविका के साधन नहीं बचे हैं। हम बुनकर हैं और कोई दूसरा कारोबार नहीं जानते। अगर बोर्ड ऑफ ट्रेड (व्यापार बोर्ड) हम पर कृपा नहीं करता और हमें कपड़ों के ऑर्डर नहीं देता है तो हम भूखों मर जाएँगे।

व्यापारिक बोर्ड की कार्रवाई, 3 फरवरी 1824

2019-2020

© NCERT not to be republished

स्रोत 2

"कृपया इसे अपने अखबार में प्रकाशित करें"

1828 में एक विधवा कताई कामगार ने *समाचार दर्पण* नामक बंगाली अखबार के नाम भेजे पत्र में अपनी दुर्दशा का इस तरह बयान किया था :

सेवा में,
संपादक, समाचार

मैं कताई कामगार हूँ। भारी कष्ट के साथ मैं यह पत्र लिख रही हूँ। कृपया इसे अपने पत्र में प्रकाशित करें...। जब मेरी उम्र... 22 साल थी तभी मेरे पति का देहांत हो गया था। मेरी तीन बेटियाँ थीं। जब मेरे पति का देहांत हुआ हमारे पास कुछ भी नहीं बचा था। उनके श्राद्ध के लिए मुझे अपने गहने बेचने पड़े। जब हम भूखों मरने की हालत में पहुँच गए तो भगवान ने मुझे जिंदा रहने का एक रास्ता दिखाया। मैं तकली और चरखे पर सूत कातने लगी...।

बुनकर हमारे घर आते और तीन तोले प्रति रुपये की दर से सूत खरीद कर ले जाते। बुनकरों से मुझे जितनी पेशगी चाहिए होती थी, मुझे मिल जाती थी। इस तरह हम खाने-पीने और कपड़ों के बारे में निश्चिंत रहने लगे। कुछ सालों में मैंने... 28 रुपए इकट्ठा कर लिए थे। इस पैसे से मैंने अपनी एक बेटी का ब्याह किया। इसी तरह मेरी तीनों बेटियाँ अपने-अपने घर चली गईं...।

अब तीन साल से हम दोनों औरतें, मेरी सास और मैं, दाने-दाने को तरस रहे हैं। अब सूत खरीदने वाले बुनकर हमारे पास नहीं आते। अगर मैं बाज़ार में सूत भेजती हूँ तो पहले के मुकाबले एक चौथाई दाम भी नहीं मिलते।

समझ में नहीं आता कि ये सब कैसे हो गया है। मैंने बहुतों से पूछा है। लोग कहते हैं कि बाहर से बिलाती (विलायती) सूत आयात किया जा रहा है। बुनकर वही सूत खरीद कर कपड़ा बनाते हैं...। लोग इस सूत का बना कपड़ा दो महीने भी नहीं पहन पाते; वह गल कर तार-तार हो जाता है।

कष्टों में फँसी एक कताई कामगार की आपबीती

लेकिन असली दुर्दिन तो अभी आने वाले थे। 1830 के दशक तक भारतीय बाज़ार ब्रिटेन में बने सूती कपड़े से पट गए। दरअसल, 1880 के दशक तक स्थिति यह हो गई थी कि भारत के लोग जितना सूती कपड़ा पहनते थे उसमें से दो तिहाई ब्रिटेन का बना होता था। इससे न केवल बुनकरों बल्कि सूत कातने वालों की भी हालत खराब होती गई। जो लाखों ग्रामीण महिलाएँ सूत कातकर ही अपनी आजीविका चला रही थीं वे बेरोज़गार हो गईं।

लेकिन भारत में हथकरघों से होने वाली बुनाई पूरी तरह खत्म नहीं हुई। इसकी वजह यह थी कि कपड़ों की कुछ किस्में मशीनों पर नहीं बन सकती थीं। भला जटिल और मनभावन किनारियों वाली साड़ी या परंपरागत बुनाई वाले कपड़े मशीनों पर कैसे बन सकते थे? इन कपड़ों की न केवल रईसों के बीच बल्कि मध्यवर्ग में भी काफी माँग थी। और न ही ब्रिटेन के कपड़ा मिलों में वह बेहद मोटा कपड़ा बनता था जिसे भारतीय गरीब पहनते थे।

गतिविधि

स्रोत 1 और 2 को देखें। अर्जी भेजने वालों ने अपनी भुखमरी के लिए किन परिस्थितियों को जिम्मेदार बताया है?

© NCERT not to be republished

आपने पश्चिमी भारत में स्थित शोलापुर और दक्षिण भारत में स्थित मदुरा का जिक्र ज़रूर सुना होगा। ये शहर उन्नीसवीं सदी के आखिर में बुनकरी के नए महत्त्वपूर्ण केन्द्र बनकर सामने आए। बाद में, राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान महात्मा गांधी ने भी लोगों से आह्वान किया कि वे आयातित कपड़े का बहिष्कार करें और हाथ से कते सूत और हाथ से बुने कपड़े ही पहनें। इस तरह खादी राष्ट्रवाद का प्रतीक बनती चली गई। चरखा भारत की पहचान बन गया और 1931 में उसे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के तिरंगे झंडे की बीच वाली पट्टी में जगह दी गई।

आइए देखें कि आजीविका के साधन गँवा चुके बुनकरों और सूत कातने वालों का क्या हुआ? उनमें से बहुत सारे तो खेतिहर मज़दूर बन गए थे। कुछ काम की तलाश में शहरों की तरफ चले गए और बहुत से देश से बाहर अफ़्रीका व दक्षिणी अमरीका के बागानों में काम करने के लिए चले गए। इनमें से कुछ हथकरघा बुनकरों को बम्बई (अब मुंबई), अहमदाबाद, शोलापुर, नागपुर और कानपुर में खुले नए कपड़ा कारख़ानों में नौकरी भी मिल गई।

सूती कपड़ा मिलों का उदय

भारत में पहली सूती कपड़ा मिल 1854 में बम्बई में स्थापित हुई। यह कताई मिल थी। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत से ही भारत से इंग्लैंड और चीन को होने वाले कच्चे कपास के निर्यात के लिए बम्बई एक महत्त्वपूर्ण बंदरगाह बन चुका था। बम्बई पश्चिमी भारत की काली मिट्टी वाली उस विशाल पट्टी से काफी निकट था जहाँ कपास की खेती की जाती थी। जब वहाँ सूती कपड़ा मिलों की स्थापना हुई तो उन्हें कच्चा माल आसानी से मिलने लगा।

चित्र 10 *– एक कपास कारख़ाने में काम करती मजदूर महिलाएँ, सन् 1900 के लगभग राजा दीनदयाल द्वारा लिया गया चित्र।*

कताई विभाग में ज़्यादातर मज़दूर महिलाएँ होती थीं जबकि बुनकर विभाग में ज़्यादातर पुरुष होते थे।

2019-2020

प्रगलन – चट्टान (या मिट्टी) को बहुत ऊँचे तापमान पर गर्म करके धातु तैयार करने या धातु की बनी चीज़ों को पिघलाने की प्रक्रिया जिससे कोई नई चीज़ बनाई जा सके।

सन् 1900 तक आते-आते बम्बई में 84 कपड़ा मिलें चालू हो चुकी थीं। उनमें से बहुत सारी मिलें पारसी और गुजराती व्यवसायियों ने खोली थीं जो चीन के साथ व्यापार के ज़रिए काफ़ी पैसा कमा चुके थे।

इस दौरान दूसरे शहरों में भी ऐसे कई कारख़ाने खोले गए। अहमदाबाद में पहला कारख़ाना 1861 में खुला। अगले ही साल संयुक्त प्रांत स्थित कानपुर में भी एक कारख़ाना खुल गया। सूती कपड़ा मिलों की बढ़ती संख्या के कारण मज़दूरों की माँग भी बढ़ने लगी। हज़ारों गरीब काश्तकार, दस्तकार और खेतिहर कामगार कारख़ानों में काम करने के लिए शहरों की तरफ जाने लगे।

प्रारंभिक कुछ दशकों के दौरान भारतीय कपड़ा कारख़ानों को बहुत सारी समस्याओं से जूझना पड़ा। सबसे पहली समस्या तो यही थी कि इस उद्योग को ब्रिटेन से आए सस्ते कपड़ों का मुकाबला करना पड़ता था। ज़्यादातर देशों में सरकारें आयातित वस्तुओं पर सीमा शुल्क लगा कर अपने देश में औद्योगीकरण को बढ़ावा देती थीं। इससे प्रतिस्पर्धा खत्म हो जाती थी और संबंधित देश के नवजात उद्योगों को संरक्षण मिलता था। परंतु औपनिवेशिक भारतीय सरकार ने स्थानीय उद्योगों को आम तौर पर इस तरह की सुरक्षा नहीं दी। लिहाज़ा, भारत में औद्योगिक सूती वस्त्रोत्पादन की पहली बड़ी लहर प्रथम विश्व युद्ध के समय दिखाई दी जब ब्रिटेन से आने वाले कपड़े की मात्रा में काफी कमी आ गई थी और सैनिक ज़रूरतों को पूरा करने के लिए भारतीय कारख़ानों से कपड़े का उत्पादन बढ़ाने की माँग की जाने लगी।

टीपू सुल्तान की तलवार और वुट्ज़ स्टील

भारतीय इस्पात और लौह धातु कला की कहानी हम टीपू सुल्तान के एक मशहूर किस्से से शुरू करते हैं। ये वही टीपू सुल्तान हैं जिन्होंने 1799 तक मैसूर पर शासन किया और अंग्रेज़ों से चार लड़ाइयाँ लड़ीं और हाथ में तलवार लिए लड़ते-लड़ते मारे गए थे। टीपू की विश्वविख्यात तलवारें आज इंग्लैंड के संग्रहालयों की बहुमूल्य संपत्ति हैं। लेकिन क्या आप जानते हैं कि टीपू की तलवार इतनी ख़ास क्यों थी? दरअसल इस तलवार की धार इतनी सख्त और पैनी थी कि वह दुश्मन के लौह-कवच को भी आसानी से चीर सकती थी। इस तलवार में यह गुण कार्बन की अधिक मात्रा वाली वुट्ज़ नामक स्टील से पैदा हुआ था जो पूरे दक्षिण भारत में बनाया जाता था। इस वुट्ज़ स्टील की तलवारें बहुत पैनी और लहरदार होती थीं। इनकी यह बनावट लोहे में गड़े कार्बन के बेहद सूक्ष्म कणों से पैदा होती थी।

चित्र 11- अठारहवीं सदी के अंत में टीपू की तलवार।

टीपू सुल्तान की तलवार की मूठ पर कुरान की आयतें लिखी हुई हैं जिनमें युद्ध में फतह के संदेश दिए गए हैं। गौर से देखिए की शेर का सिर मूठ के निचले सिरे की तरफ है।

टीपू सुल्तान की मृत्यु के एक साल बाद 1800 में मैसूर की यात्रा करने वाले फ़्रांसिस बुकानन ने इस बात का ब्योरा दिया है कि मैसूर की सैकड़ों **प्रगलन** भट्ठियों में वुट्ज़ स्टील किस तरह बनाया जाता था। इन भट्ठियों में लोहे को काठकोयले के साथ मिलाकर मिट्टी की छोटी-छोटी हांडियों में रख दिया जाता था। तापमान के जटिल उतार-चढ़ावों को नियंत्रित करते हुए प्रगालक इस्पात की सिल्लियाँ तैयार कर लेते थे जिनका न केवल भारत बल्कि पश्चिमी और मध्य एशिया में भी तलवार बनाने के लिए इस्तेमाल किया जाता था। वुट्ज़

2019-2020

असल में कन्नड शब्द उक्कू, तेलगु शब्द हुक्कू और तमिल व मलयालम शब्द उरुक्कू यानी स्टील का ही बिगड़ा हुआ अंग्रेज़ी रूप है।

भारतीय वुट्ज़ स्टील ने यूरोपीय वैज्ञानिकों को काफी आकर्षित किया था। विश्वविख्यात वैज्ञानिक और बिजली व विद्युत चुम्बकत्व का आविष्कार करने वाले माइकल फ़ैराडे ने भारतीय वुट्ज़ स्टील की विशेषताओं का चार साल (1818-22) तक अध्ययन किया। परंतु दक्षिण भारत में इतनी प्रचलित वुट्ज़ स्टील निर्माण प्रक्रिया उन्नीसवीं सदी के मध्य तक आते-आते पूरी तरह लुप्त हो चुकी थी। क्या आप बता सकते हैं ऐसा क्यों हुआ होगा? भारत पर अंग्रेज़ों की जीत के साथ ही यहाँ का तलवार और हथियार उद्योग समाप्त हो गया और भारतीय कारीगरों द्वारा बनाए गए लोहे और इस्पात का स्थान इंग्लैंड से आए लोहे और इस्पात ने ले लिया।

गतिविधि

नवाबों और राजाओं की हार से लौह एवं इस्पात उद्योग कैसे प्रभावित होता था?

गाँवों की उजड़ी भट्ठियाँ

वुट्ज़ स्टील उत्पादन के लिए लोहे के परिशोधन की बेहद परिष्कृत तकनीक ज़रूरी थी। परंतु भारत में उन्नीसवीं सदी के अंत तक लोहे का प्रगलन एक सामान्य गतिविधि थी। खासतौर से बिहार और मध्य भारत के हरेक जिले में ऐसे प्रगालक कारगर थे जो लोहा बनाने के लिए लौह अयस्क के स्थानीय भंडारों का इस्तेमाल करते थे। इसी लोहे से कारख़ानों में दैनिक इस्तेमाल के औज़ार और साधन बनाए जाते थे। ज़्यादातर भट्ठियाँ मिट्टी और धूप में सुखायी गई ईंटों से बनी होती थीं। प्रगलन का काम पुरुष करते थे जबकि महिलाएँ **धौंकनी** चलाती थीं। वे कोयले को लगातार दहकाने के लिए हवा

धौंकनी – हवा फेंकने का यंत्र।

चित्र 12 – पालामाऊ, बिहार के लोहा कारीगर।

NCERT not to be republished

चित्र 13– मध्य भारत का एक गाँव जहाँ लौह प्रगालकों का अगरिया समुदाय रहता था।

अगरिया जैसे कई समुदाय लोहा बनाने में माहिर थे। उन्नीसवीं सदी के आखिर में बार-बार पड़े अकाल की वजह से भारत के सूखे इलाके पूरी तरह तबाह हो चुके थे। मध्य भारत में बहुत सारे अगरिया कारीगरों ने काम बंद कर दिया, गाँव छोड़ दिया और रोजी-रोटी की तलाश में दूसरे इलाकों में चले गए। उनमें से बहुत सारे लोगों ने दोबारा कभी भट्ठियाँ नहीं चलाईं।

फेंकती रहती थीं।

उन्नीसवीं सदी के अंत तक आते-आते लोहे के प्रगलन का हुनर खत्म होने लगा था। ज़्यादातर गाँवों में भट्ठियाँ ठंडी पड़ चुकी थीं और लोहे का उत्पादन गिरता जा रहा था। ऐसा क्यों हुआ?

इसकी एक वजह तो नए वन क़ानून ही थे जिनके बारे में आप अध्याय 4 में पढ़ चुके हैं। जब औपनिवेशिक सरकार ने आरक्षित वनों में लोगों के प्रवेश पर पाबंदी लगा दी तो लोहा बनाने वालों को कोयले के लिए भला लकड़ी कहाँ से मिलती? और, लौह अयस्क भी वे कहाँ से ला सकते थे? वन क़ानूनों को नज़रअंदाज करते हुए वे अकसर चोरी-छिपे जंगलों में जाकर लकड़ी इकट्ठा कर लाते थे परंतु लंबे समय तक केवल इसी तरह अपना कारोबार जारी नहीं रख सकते थे। लिहाज़ा, बहुत सारे कारीगरों ने यह पेशा छोड़ दिया और वे आजीविका के दूसरे साधन ढूँढ़ने लगे।

कुछ क्षेत्रों में सरकार ने जंगलों में आवाजाही की अनुमति दे दी थी। लेकिन प्रगालकों को अपनी प्रत्येक भट्ठी के लिए वन विभाग को बहुत भारी कर चुकाने पड़ते थे जिससे उनकी आय गिर जाती थी।

उन्नीसवीं सदी के आखिर तक ब्रिटेन से लोहे और इस्पात का आयात भी होने लगा था। भारतीय लुहार भी घरेलू बर्तन व औज़ार आदि बनाने के लिए आयातित लोहे का इस्तेमाल करने लगे थे। इसकी वजह से स्थानीय प्रगालकों द्वारा बनाए जा रहे लोहे की माँग कम होने लगी।

बीसवीं सदी की शुरुआत तक लोहा और इस्पात बनाने वाले कारीगरों के सामने एक नई चुनौती आ खड़ी हुई।

स्रोत 3

एक व्यापक उद्योग

प्राणी-विज्ञान सर्वेक्षण विभाग की एक रिपोर्ट के अनुसार :

एक जमाने में लोहा प्रगलन भारत का बहुत व्यापक उद्योग था और सिंधु, गंगा व ब्रह्मपुत्र के विशाल बलुआ मैदानों के अलावा शायद ही कोई ऐसा जिला था जहाँ **धातु-मल** न दिखाई देता हो। यहाँ के आदिम लौह प्रगालकों को ऐसे भंडारों से अयस्क हासिल करने में कोई परेशानी नहीं होती जिन पर कोई यूरोपीय लौह विशेषज्ञ एक पल के लिए विचार करना भी उचित नहीं समझेगा।

2019-2020

भारत में लोहा व इस्पात कारख़ानों का उदय

धातु-मल – धातु को गलाने से पैदा होने वाला कचरा।

साल 1904 की बात है। अप्रैल के महीने में अमरीकी भूवैज्ञानिक चार्ल्स वेल्ड और जमशेदजी टाटा के सबसे बड़े बेटे दोराबजी टाटा छत्तीसगढ़ में लौह अयस्क भंडारों की खोजबीन करते घूम रहे थे। वे भारत में एक आधुनिक लौह एवं इस्पात संयंत्र लगाने के लिए अच्छे लौह अयस्क भंडारों की तलाश में कई महीने और काफी सारा पैसा खर्च कर चुके थे। जमशेदजी टाटा भारत में बड़ा लौह एवं इस्पात कारख़ाना लगाने के लिए अपनी संपत्ति का बड़ा भाग खर्च करने को तैयार थे। लेकिन इसके लिए पहली शर्त यह थी कि उम्दा लौह अयस्क भंडारों का पता लगा लिया जाए।

एक दिन, कई घंटे तक जंगल की खाक छानने के बाद वेल्ड और दोराबजी एक छोटे से गाँव में जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि कुछ स्त्री-पुरुष टोकरियों में भरकर लौह अयस्क ले जा रहे हैं। ये अगरिया समुदाय के लोग थे। जब उनसे पूछा गया कि वे अयस्क कहाँ से लाए हैं तो उन्होंने दूर स्थित एक पहाड़ी की तरफ उँगली उठा दी। वेल्ड और दोराबजी घने जंगलों से होते हुए काफी देर बाद थककर उस पहाड़ी पर जा पहुँचे। पहाड़ी का अध्ययन करने के बाद वेल्ड ने बताया कि उन्हें जिस चीज़ की तलाश थी वह मिल चुकी है। रझारा पहाड़ियाँ दुनिया के सबसे बेहतरीन लौह अयस्क भंडारों में से एक थीं।

लेकिन यहाँ एक परेशानी थी। यह सूखा इलाक़ा था और कारख़ाना चलाने के लिए आसपास कहीं पानी नहीं था। लिहाज़ा, कारख़ाना लगाने के लिए सही जगह के बारे में टाटा की तलाश जारी रही। अगरिया समुदाय के लोगों ने ही लौह अयस्क का एक और स्रोत ढूँढ़ने में मदद दी जहाँ से बाद में भिलाई स्टील संयंत्र को अयस्क की आपूर्ति की गई।

कुछ साल बाद सुबर्णरेखा नदी के तट पर बहुत सारा जंगल साफ करके फ़ैक्ट्री और एक औद्योगिक शहर बसाने के लिए जगह बनाई गई। इस शहर को जमशेदपुर का नाम दिया गया। इस स्थान पर लौह अयस्क भंडारों के निकट ही पानी भी उपलब्ध था। यहाँ टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी (टिस्को) की स्थापना हुई जिसमें 1912 से स्टील का उत्पादन होने लगा।

टिस्को की स्थापना बहुत सही समय पर हुई थी। उन्नीसवीं सदी में भारत

चित्र 14 – सुबर्णरेखा नदी के किनारे बनी टाटा आयरन एण्ड स्टील फ़ैक्ट्री, 1940.

आमतौर पर ब्रिटेन में बने स्टील का आयात कर रहा था। भारत में रेलवे के विस्तार की वजह से ब्रिटेन में बनी पटरियों की यहाँ भारी माँग थी। काफी समय तक भारतीय रेलवे से जुड़े अंग्रेज़ विशेषज्ञ यह मानने को तैयार ही नहीं थे कि भारत में भी श्रेष्ठ इस्पात का निर्माण संभव है।

जब तक टिस्को की स्थापना हुई, हालात बदलने लगे थे। 1914 में पहला विश्व युद्ध शुरू हुआ। ब्रिटेन में बनने वाले इस्पात को यूरोप में युद्ध संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए झोंक दिया गया। इस तरह भारत आने वाले ब्रिटिश स्टील की मात्रा में भारी गिरावट आई और रेल की पटरियों के लिए भारतीय रेलवे टिस्को पर आश्रित हो गया। जब युद्ध लंबा खिंच गया तो टिस्को को युद्ध के लिए गोलों के खोल और रेलगाड़ियों के पहिये बनाने का काम भी सौंप दिया गया। 1919 तक स्थिति यह हो गई थी कि टिस्को में बनने वाले 90 प्रतिशत इस्पात को औपनिवेशिक सरकार ही खरीद लेती थी। जैसे–जैसे समय बीता टिस्को समूचे ब्रिटिश साम्राज्य में इस्पात का सबसे बड़ा कारख़ाना बन चुका था।

सूती कपड़े की तरह लोहे एवं इस्पात के मामले में भी औद्योगिक विस्तार तभी शुरू हुआ जब भारत में ब्रिटिश आयात गिरने लगा और भारतीय

चित्र 15 – युद्ध के आखिर में विस्तार।

युद्ध की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए टिस्को को अपनी क्षमता और फ़ैक्ट्री का आकार बढ़ाना पड़ा। विस्तार का यह काम युद्ध के बाद भी चलता रहा। इस चित्र में नए विद्युत संयंत्र और बायलर संयंत्र बनाए जा रहे हैं, जमशेदपुर 1919.

औद्योगिक वस्तुओं की माँग में इज़ाफा हुआ। ये बदलाव पहले विश्व युद्ध के दौरान और उसके बाद सामने आए। जैसे-जैसे राष्ट्रीय आंदोलन विकसित हुआ, औद्योगिक वर्ग ताकतवर होता गया और सरकारी संरक्षण की माँग बुलंद होती गई। भारत पर अपना नियंत्रण बनाए रखने के लिए संघर्षरत ब्रिटिश सरकार को औपनिवेशिक शासन के आखिरी दशकों में इनमें से बहुत सारी माँगें माननी पड़ीं।

अन्यत्र

जापान में औद्योगीकरण के शुरुआती साल

उन्नीसवीं सदी के आखिर में जापान के औद्योगीकरण का इतिहास भारत के औद्योगीकरण से बिलकुल उल्टा दिखाई देता है। भारत में औपनिवेशिक सरकार ब्रिटिश वस्तुओं का बाज़ार बढ़ाना चाहती थी इसलिए उसने भारतीय उद्योगपतियों को किसी तरह की सहायता नहीं दी। दूसरी तरफ, जापान की सरकार ने अपने देशी उद्योगों को खुलकर बढ़ावा दिया।

1868 में जापान की सत्ता सँभालने वाले मेजी राजवंश का मानना था कि जापान को पश्चिमी प्रभुत्व का सामना करने के लिए औद्योगीकरण के रास्ते पर चलना चाहिए। इसलिए उसने औद्योगीकरण को आगे बढ़ाने के लिए कई महत्त्वपूर्ण कदम उठाए। इसी क्रम में डाक सेवाओं, टेलीग्राफ, रेलवे और वाष्पचालित जलपोतों का विकास किया गया। पश्चिम से नवीनतम तकनीक का आयात किया गया और उसे जापान की ज़रूरतों के हिसाब से ढाला गया। जापानी पेशेवरों को प्रशिक्षित करने के लिए विदेशी विशेषज्ञों को बुलाया गया। निवेश के लिए सरकारी बैंकों से उद्योगपतियों को उदार शर्तों पर कर्जे दिए गए। सरकार ने पहले विशाल उद्योग शुरू किए और बाद में उन्हें सस्ती कीमत पर व्यावसायिक घरानों को बेच दिया।

भारत में औपनिवेशिक प्रभुत्व ने औद्योगीकरण के रास्ते में बाधाएँ पैदा कर दी थीं जबकि जापान में विदेशी कब्जे के भय की वजह से ही औद्योगीकरण को बढ़ावा मिला था। लेकिन इसका एक अर्थ यह भी था कि जापान का औद्योगिक विकास शुरू से ही उसकी सैनिक ज़रूरतों से जुड़ा हुआ था।

© NCERT not to be republished

फिर से याद करें

1. यूरोप में किस तरह के कपड़ों की भारी माँग थी?
2. *जामदानी* क्या है?
3. *बंडाना* क्या है?
4. अगरिया कौन होते हैं?

आइए कल्पना करें

कल्पना करें कि आप उन्नीसवीं सदी के आखिर के भारतीय बुनकर हैं। भारतीय फ़ैक्ट्रियों में बने कपड़े बाज़ार में छाए हुए हैं। ऐसी स्थिति में आप अपनी जिंदगी में क्या बदलाव लाएँगे?

5. रिक्त स्थान भरें :

(क) अंग्रेज़ी का शिंट्ज़ शब्द हिंदी के .... शब्द से निकला है।

(ख) टीपू की तलवार ... स्टील से बनी थी।

(ग) भारत का कपड़ा निर्यात ... सदी में गिरने लगा।

आइए विचार करें

6. विभिन्न कपड़ों के नामों से उनके इतिहासों के बारे में क्या पता चलता है?

7. इंग्लैंड के ऊन और रेशम उत्पादकों ने अठारहवीं सदी की शुरुआत में भारत से आयात होने वाले कपड़े का विरोध क्यों किया था?

8. ब्रिटेन में कपास उद्योग के विकास से भारत के कपड़ा उत्पादकों पर किस तरह के प्रभाव पड़े?

9. उन्नीसवीं सदी में भारतीय लौह प्रगलन उद्योग का पतन क्यों हुआ?

10 भारतीय वस्त्रोद्योग को अपने शुरुआती सालों में किन समस्याओं से जूझना पड़ा?

11 पहले महायुद्ध के दौरान अपना स्टील उत्पादन बढ़ाने में टिस्को को किस बात से मदद मिली?

आइए करके देखें

12. जहाँ आप रहते हैं उसके आस-पास प्रचलित किसी हस्तकला का इतिहास पता लगाएँ। इसके लिए आप दस्तकारों के समुदाय, उनकी तकनीक में आए बदलावों और उनके बाज़ारों के बारे में जानकारियाँ इकट्ठा कर सकते हैं। देखें कि पिछले 50 साल के दौरान इन चीज़ों में किस तरह बदलाव आए हैं?

13 भारत के नक्शे पर विभिन्न हस्तकलाओं के अलग-अलग केंद्रों को चिह्नित करें। पता लगाएँ कि ये केंद्र कब पैदा हुए?

© NCERT not to be republished

7 "देशी जनता" को सभ्य बनाना राष्ट्र को शिक्षित करना

0865CH07

पहले के अध्यायों में आप देख चुके हैं कि ब्रिटिश शासन के कारण यहाँ के राजाओं और नवाबों, किसानों और आदिवासियों पर किस-किस तरह के प्रभाव पड़े थे। इस अध्याय में हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि इन चीज़ों से विद्यार्थियों के जीवन पर क्या असर पड़े। विद्यार्थियों के जीवन को समझना इसलिए ज़रूरी है क्योंकि भारत में अंग्रेज़ केवल भूक्षेत्र पर विजय और आय पर नियंत्रण ही नहीं चाहते थे। उन्हें लगता था कि उनका एक सांस्कृतिक मिशन भी है। वे मानते थे कि उन्हें "देशी समाज को सभ्य बनाना" है और उनके रीति-रिवाज़ों और मूल्य-मान्यताओं को बदलना है।

इसके लिए कौन-से बदलाव लाए जाने थे? भारतीयों को शिक्षित, "सभ्य", और अंग्रेज़ों की सोच के मुताबिक "अच्छी प्रजा" बनाने के लिए कौन से कदम उठाए जाने थे? अंग्रेज़ों के पास भी इन सवालों के कोई बने-बनाए जवाब नहीं थे। इन सवालों पर कई दशक तक बहस चलती रही।

भाषाविद – एक ऐसा व्यक्ति जो कई भाषाओं का जानकार और विद्यार्थी होता है।

अंग्रेज़ शिक्षा को किस तरह देखते थे

आइए सबसे पहले इस बात पर ध्यान दें कि शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेज़ क्या सोच रहे थे और शिक्षा के जो विचार हमें आज सहज-सामान्य दिखाई देते हैं, वे पिछले 200 सालों में किस तरह विकसित हुए हैं। इस पड़ताल के दौरान हम इस बात पर भी विचार करेंगे कि भारतीयों ने ब्रिटिश विचारों पर कैसी प्रतिक्रिया दी और इस बारे में अंग्रेज़ों के विचार किस तरह विकसित हुए कि भारतीयों को कैसे पढ़ाया जाएगा।

प्राच्यवाद की परंपरा

सन् 1783 में विलियम जोन्स नाम के एक सज्जन कलकत्ता आए। उन्हें ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा स्थापित किए गए सुप्रीम कोर्ट में जूनियर जज के पद पर तैनात किया गया था। क़ानून का माहिर होने के साथ-साथ जोन्स एक **भाषाविद** भी थे। उन्होंने ऑक्सफ़र्ड में ग्रीक और लैटिन का अध्ययन किया था, वे फ्रैंच और अंग्रेज़ी जानते थे और अपने एक दोस्त से अरबी सीखने के अलावा फ़ारसी भी सीख चुके थे। कलकत्ता में

चित्र 1 – विलियम जोन्स फ़ारसी भाषा सीख रहे हैं।

© NCERT not to be republished

चित्र 2 – हेनरी टॉमस कोलब्रुक।
वह संस्कृत तथा हिंदुत्व के प्राचीन धार्मिक ग्रंथों के विद्वान थे।

आने के बाद वे रोज़ाना घंटों संस्कृत विद्वानों के साथ बैठकर उनसे संस्कृत की बारीकियाँ, उसकी व्याकरण और संस्कृत काव्यों का अध्ययन करने लगे थे। कुछ ही समय में उन्होंने क़ानून, दर्शन, धर्म, राजनीति, नैतिकता, अंकगणित, चिकित्सा विज्ञान और अन्य विज्ञानों की प्राचीन भारतीय पुस्तकों का अध्ययन शुरू कर दिया।

जोन्स ने पाया कि उस समय कलकत्ता में तैनात बहुत सारे अंग्रेज़ अफ़सर भी उनके जैसी दिलचस्पियाँ रखते थे। हैनरी टॉमस कोलब्रुक और नैथेनियल हॉलहेड भी भारतीय भाषाएँ सीख कर संस्कृत व फ़ारसी रचनाओं का अंग्रेज़ी में अनुवाद कर रहे थे और प्राचीन भारतीय विरासत को समझने के प्रयास में लगे हुए थे। इन लोगों के साथ मिलकर जोन्स ने एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल का गठन किया और *एशियाटिक रिसर्च* नामक शोध पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया।

जोन्स और कोलब्रुक भारत के प्रति एक ख़ास तरह का रवैया रखते थे। वे भारत और पश्चिम, दोनों की प्राचीन संस्कृतियों के प्रति गहरा आदर भाव रखते थे। उनका मानना था कि भारतीय सभ्यता प्राचीन काल में अपने वैभव के शिखर पर थी परंतु बाद में उसका पतन होता चला गया। उनकी राय में, भारत को समझने के लिए प्राचीन काल में लिखे गए यहाँ के पवित्र और क़ानूनी ग्रंथों को खोजना व समझना बहुत ज़रूरी था। उनका मानना था कि हिंदुओं और मुसलमानों के असली विचारों व क़ानूनों को इन्हीं रचनाओं के ज़रिए समझा जा सकता है और इन रचनाओं के पुनः अध्ययन से ही भारत के भावी विकास का आधार पैदा हो सकता है।

इस तरह, जोन्स और कोलब्रुक, दोनों ही प्राचीन ग्रंथों को ढूँढ़ने, उनकी व्याख्या करने, अनुवाद करने और ज़्यादा से ज़्यादा लोगों तक अपने नतीजे पहुँचाने में जुट गए। उन्हें विश्वास था कि यह परियोजना न केवल अंग्रेज़ों को भारतीय संस्कृति से सीखने में मदद देगी बल्कि भारतीयों को भी अपनी विरासत को दोबारा अपनाने और अतीत के लुप्त वैभव को समझने में मदद देगी। इस प्रक्रिया में अंग्रेज़ भारतीय संस्कृति के अभिभावक और मालिक, दोनों की भूमिकाएँ निभा रहे थे।

इन प्रयासों और विचारों से प्रभावित होकर कंपनी के बहुत सारे अधिकारियों ने दलील दी कि अंग्रेज़ों को पश्चिमी ज्ञान की बजाय भारतीय ज्ञान को ही प्रोत्साहन देना चाहिए। वे चाहते थे कि प्राचीन भारतीय ग्रंथों के अध्ययन को प्रोत्साहित करने और संस्कृत व फ़ारसी साहित्य व काव्य पढ़ाने के लिए संस्थानों की स्थापना की जाए। इन अधिकारियों का ये भी मानना था कि हिन्दुओं और मुसलमानों को वही पढ़ाया जाना चाहिए जिससे वे पहले ही परिचित हैं और जिसे वे आदर और महत्त्व देते हैं। उन्हें अनजाने विषयों की शिक्षा न दी जाए। इन अफ़सरों की राय में, केवल तभी अंग्रेज़ "देशी जनता" का दिल जीत सकते हैं; केवल तभी अजनबी शासक अपनी प्रजा से आदर की उम्मीद कर सकते हैं।

मदरसा – सीखने के स्थान को अरबी भाषा में मदरसा कहा जाता है। यह किसी भी तरह का स्कूल या कॉलेज या कोई और संस्थान हो सकता है।

इस बात को ध्यान में रखते हुए 1781 में अरबी, फ़ारसी, इस्लामिक क़ानून के अध्ययन को बढ़ावा देने के लिए कलकत्ता में एक **मदरसा** खोला गया।

2019-2020

चित्र 3 – वॉरेन हेस्टिंग्स का स्मारक, रिचर्ड वेस्टमाकोट, 1830, अब कलकत्ता स्थित विक्टोरिया मेमोरियल में।

इस तस्वीर से पता चलता है कि भारत में ब्रिटिश सत्ता के बारे में **प्राच्यवादी** किस तरह सोचते थे। यहाँ आप देख सकते हैं कि सबसे ऊपर हेस्टिंग्स की भव्य प्रतिमा है जो प्राच्यवादियों के भारी समर्थक थे। इसके एक तरफ पंडित और दूसरी तरफ नीचे बैठा हुआ **मुंशी** दिखाई दे रहा है। हेस्टिंग्स तथा अन्य प्राच्यवादी भारतीय विद्वानों से विभिन्न भारतीय भाषाएँ सीखना चाहते थे जिन्हें वह कई बार केवल बोलियाँ समझते और **'वर्नाकुलर'** का नाम देते थे।। स्थानीय रीति-रिवाज़ों और कानूनों के बारे में जानना चाहते थे और प्राचीन ग्रंथों के अनुवाद और व्याख्या में मदद चाहते थे। हेस्टिंग्स ने पहल करके कलकत्ता मदरसे की स्थापना की और उनका विश्वास था कि यहाँ के प्राचीन रीति-रिवाज़ और यहाँ की ज्ञान संपदा ही भारत में ब्रिटिश शासन के आधार होने चाहिए।

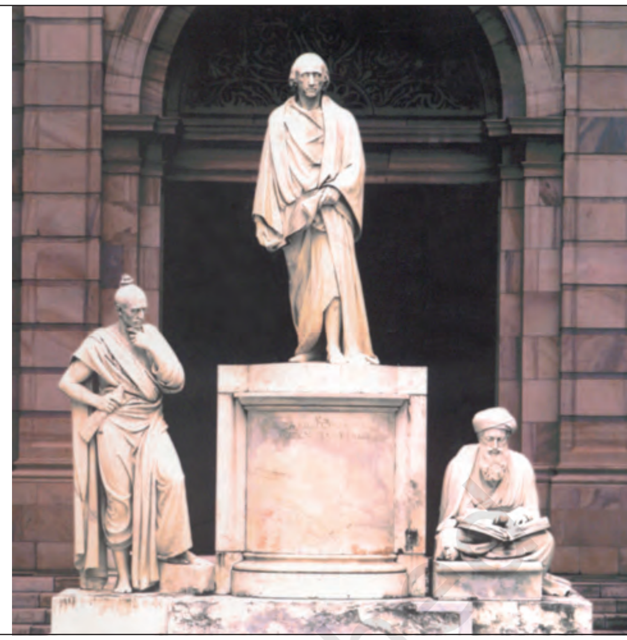

1791 में बनारस में हिन्दू कॉलेज की स्थापना की गई ताकि वहाँ प्राचीन संस्कृत ग्रंथों की शिक्षा दी जा सके और देश का शासन चलाने में मदद मिले।

परंतु कंपनी के सभी अफ़सर इन विचारों से सहमत नहीं थे। इनमें से बहुत सारे प्राच्यवादियों के कटु आलोचक भी थे।

"पूरब की जघन्य ग़लतियाँ"

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत से ही बहुत सारे अंग्रेज़ अफ़सर शिक्षा के प्राच्यवादी दृष्टिकोण की आलोचना करने लगे थे। उनका कहना था कि पूर्वी समाजों का ज्ञान त्रुटियों से भरा हुआ और अवैज्ञानिक है। उनके मुताबिक, पूर्वी साहित्य अगंभीर और सतही था। इसीलिए उन्होंने दलील दी कि अंग्रेज़ों को अरबी और संस्कृत भाषा व साहित्य के अध्ययन को बढ़ावा देने पर इतना ख़र्चा नहीं करना चाहिए।

प्राच्यवादियों पर हमला करने वालों में जेम्स मिल प्रमुख थे। उनका विश्वास था कि अंग्रेज़ों को देशी जनता को खुश करने और 'उसका दिल जीतने' के लिए जनता की इच्छा के हिसाब से या उनकी भावनाओं को ध्यान में रखते हुए शिक्षा नहीं देनी चाहिए। उनकी राय में शिक्षा के ज़रिए उपयोगी और व्यावहारिक चीज़ों का ज्ञान दिया जाना चाहिए। इसलिए भारतीयों को पूर्वी समाजों के काव्य और धार्मिक साहित्य की बजाय ये पढ़ाया जाना चाहिए कि पश्चिम ने किस तरह की वैज्ञानिक और तकनीकी सफलताएँ हासिल कर ली हैं।

1830 के दशक तक प्राच्यवादियों का विरोध और तीखा हो गया था। थॉमस बैबिंगटन मैकॉले इन आलोचकों में सबसे मुखर और प्रभावशाली विचारक थे। वह भारत को असभ्य देश मानते थे जिसे सभ्यता का पाठ पढ़ाना ज़रूरी था। मैकॉले के मुताबिक, पूर्वी ज्ञान की कोई भी शाखा इंग्लैंड

प्राच्यवादी – एशिया की भाषा और संस्कृति का गहन ज्ञान रखने वाले लोग।

मुंशी – ऐसा व्यक्ति जो फ़ारसी पढ़ना, लिखना और पढ़ाना जानता हो।

वर्नाकुलर – यह शब्द आमतौर पर मानक भाषा से अलग किसी स्थानीय भाषा या बोली के लिए इस्तेमाल किया जाता है। भारत जैसे औपनिवेशिक देशों में अंग्रेज़ रोजमर्रा इस्तेमाल की स्थानीय भाषाओं और साम्राज्यवादी शासकों की भाषा अंग्रेज़ी के बीच फर्क को चिह्नित करने के लिए इस शब्द का इस्तेमाल करते थे।

2019-2020

चित्र 4 – *थॉमस बैबिंगटन मैकॉले और उनका अध्ययन कक्ष।*

की प्रगति के समकक्ष नहीं थी। मैकॉले का कहना था कि "एक अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय का केवल एक खाना ही भारत और अरब के समूचे देशी साहित्य के बराबर" है। उनका तर्क था कि भारत में ब्रिटिश सरकार को प्राच्यवादी ज्ञान पर सरकारी पैसा बरबाद नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे कोई फायदा होने वाला नहीं है।

गहन ऊर्जा और आवेशपूर्वक मैकॉले ने अंग्रेज़ी भाषा सिखाने की ज़रूरत पर ज़ोर दिया। उनका मानना था कि अंग्रेज़ी के ज्ञान से भारतीयों को दुनिया की श्रेष्ठतम साहित्यिक कृतियों को पढ़ने का मौका मिलेगा; यहाँ के लोग पश्चिमी विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में हुए विकास से अवगत हो पाएंगे। इस प्रकार, उनका कहना था कि अंग्रेज़ी पढ़ाना लोगों को सभ्य बनाने, उनकी रुचियों, मूल्यों और संस्कृति को बदलने का रास्ता हो सकता है।

मैकॉले के मिनट्स (विवरण) के आधार पर 1835 का अंग्रेज़ों का शिक्षा अधिनियम पारित किया गया। ये फ़ैसला भी लिया गया कि अंग्रेज़ी को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाया जाए और कलकत्ता मदरसे तथा बनारस संस्कृत कॉलेज जैसे प्राच्यवादी संस्थानों को प्रोत्साहन न दिया जाए। इन संस्थानों को "अपने आप क्षरण का शिकार होते जा रहे अंधकार के मंदिरों" की संज्ञा दी गई। अब स्कूलों के लिए भी अंग्रेज़ी पाठ्यपुस्तकें छपने लगीं।

स्रोत 1

ज्ञानियों की भाषा?

अंग्रेज़ी पढ़ाने की ज़रूरत पर ज़ोर देते हुए मैकॉले ने यह कहा था :

सभी पक्ष इस बात पर सहमत दिखाई देते हैं कि भारत के ... देशी लोगों द्वारा आमतौर पर बोली जाने वाली बोलियों में न तो साहित्यहिक जानकारियाँ होती हैं और न ही वैज्ञानिक। इसके अलावा, ये बोलियाँ इतनी दरिद्र और रूखी हैं कि अगर किसी और स्रोत से उनको समृद्ध न बनाया जाए तो किसी भी मूल्यवान कृति का उनमें अनुवाद भी नहीं किया जा सकता ....।

थॉमस बेबिंगटन मैकॉले, भारतीय शिक्षा के विषय में 2 फरवरी 1835 के मिनट्स।

व्यवसाय के लिए शिक्षा

1854 में ईस्ट इंडिया कंपनी के लंदन स्थित कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने भारतीय गवर्नर जनरल को शिक्षा के विषय में एक नोट भेजा। कंपनी के नियंत्रक मंडल के अध्यक्ष चार्ल्स वुड के नाम से जारी किए गए इस संदेश को वुड का नीतिपत्र (वुड्स डिस्पैच) के नाम से जाना जाता है। इस दस्तावेज़ में भारत में लागू की जाने वाली शिक्षा नीति की रूपरेखा स्पष्ट करते हुए एक बार फिर दोहराया गया है कि प्राच्यवादी ज्ञान के स्थान पर यूरोपीय शिक्षा को अपनाने से कितने व्यावहारिक लाभ प्राप्त होंगे।

इस दस्तावेज़ में यूरोपीय शिक्षा का एक व्यावहारिक लाभ आर्थिक क्षेत्र में बताया गया था। उसके मुताबिक, यूरोपीय शिक्षा के माध्यम से भारतीयों को व्यापार और वाणिज्य के विस्तार से होने वाले लाभों को समझने और देश के संसाधनों के विकास का महत्त्व समझने में मदद मिलेगी। यदि उन्हें यूरोपीय जीवन शैली से अवगत कराया गया तो उनकी रुचियों और आकांक्षाओं में भी बदलाव आएगा और ब्रिटिश वस्तुओं की माँग पैदा होगी क्योंकि तब यहाँ के लोग यूरोप में बनी चीज़ों को अपनाना और खरीदना शुरू कर देंगे।

2019-2020

वुड के नीतिपत्र में यह तर्क भी दिया गया था कि यूरोपीय शिक्षा से भारतीयों के नैतिक चरित्र का उत्थान होगा। इससे वे ज़्यादा सत्यवादी और ईमानदार बन जाएंगे और फलस्वरूप कंपनी के पास भरोसेमंद कर्मचारियों की कमी नहीं रहेगी। दस्तावेज़ के मुताबिक, पूरब का साहित्य न केवल भयानक त्रुटियों से भरा पड़ा था बल्कि यह लोगों में न तो काम के प्रति दायित्व और समर्पण का भाव पैदा कर सकता है और न ही शासन के लिए आवश्यक निपुणता पैदा कर सकता है।

1854 के नीतिपत्र के बाद अंग्रेज़ों ने कई अहम कदम उठाए। सरकारी शिक्षा विभागों का गठन किया गया ताकि शिक्षा संबंधी सभी मामलों पर सरकार का नियंत्रण स्थापित किया जा सके। विश्वविद्यालयी शिक्षा की व्यवस्था विकसित करने के लिए भी कदम उठाए गए। 1857 में जब मेरठ और दिल्ली में सिपाही विद्रोह कर रहे थे उसी समय कलकत्ता, मद्रास और बम्बई विश्वविद्यालयों की स्थापना की जा रही थी। स्कूली शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन के प्रयास भी किए गए।

गतिविधि

कल्पना कीजिए कि आप 1850 के दशक में जी रहे हैं। आपने वुड के नीतिपत्र (वुड्स डिस्पैच) के बारे में सुना है। इसके बारे में अपनी प्रतिक्रियाएँ लिखिए।

स्रोत 2

यूरोपीय ज्ञान के पक्ष में एक तर्क

1854 के वुड के नीतिपत्र में प्राच्यवादी ज्ञान का विरोध करने वालों की निर्णायक विजय का संकेत था। इसमें कहा गया था:

> हमें ज़ोर देकर यह बात कहनी चाहिए कि भारत में हम जिस शिक्षा का प्रसार करना चाहते हैं उस शिक्षा का लक्ष्य यूरोप की श्रेष्ठतर कलाओं, सेवाओं, दर्शन और साहित्य यानी यूरोपीय ज्ञान का प्रसार करना है।

चित्र 5 – उन्नीसवीं सदी में बम्बई विश्वविद्यालय।

© NCERT not to be republished

नैतिक शिक्षा की माँग

चित्र 6 – स्कॉटलैंड के ईसाई प्रचारक विलियम केरे जिसने सेरामपुर मिशन की स्थापना में मदद की।

उन्नीसवीं सदी में भारत में सक्रिय ईसाई प्रचारकों ने व्यावहारिक शिक्षा के पक्ष में दिए जा रहे तर्कों का घोर विरोध किया। प्रचारकों का मानना था कि शिक्षा का उद्देश्य लोगों के नैतिक चरित्र में सुधार लाना होता है और नैतिकता उत्थान केवल ईसाई शिक्षा के ज़रिए ही संभव है।

1813 तक ईस्ट इंडिया कंपनी भारत में प्रचारक गतिविधियों के विरुद्ध थी। कंपनी को भय था कि प्रचारकों की गतिविधियों की वजह से स्थानीय जनता के बीच असंतोष पैदा होगा और लोग भारत में अंग्रेज़ों की उपस्थिति को शक की नज़र से देखने लगेंगे। ब्रिटिश नियंत्रण वाले भूक्षेत्रों में अपनी संस्थाएँ न खोल पाने की वजह से प्रचारकों ने अंततः सेरामपुर में अपना मिशन खोला। यह इलाका डेनिश ईस्ट इंडिया कंपनी के नियंत्रण में आता था। वर्ष 1800 में एक छापाखाना लगाया गया और 1818 में एक कॉलेज खोला गया।

उन्नीसवीं सदी के दौरान पूरे भारत में प्रचारक स्कूल खोले गए। परंतु 1857 के बाद भारत की ब्रिटिश सरकार प्रचारक शिक्षा को प्रत्यक्ष सहायता देने में आनाकानी करने लगी थी। सरकार को लगता था कि स्थानीय रीति-रिवाज़ों, व्यवहारों, मूल्य-मान्यताओं और धार्मिक विचारों से किसी भी तरह की छेड़छाड़ "देशी" लोगों को भड़का सकती है।

चित्र 7 – कलकत्ता के पास हुगली नदी के तट पर स्थित सेरामपुर कॉलेज।

2019-2020

स्थानीय पाठशालाओं का क्या हुआ?

चित्र 8 - एक ग्रामीण पाठशाला।

यह फ़्रांसवाँ सॉल्विन नामक डच पेंटर द्वारा बनाया गया चित्र है। फ़्रांसवाँ अठारहवीं सदी के आख़िर में भारत आए थे। अपने चित्रों में उन्होंने लोगों के दैनिक जीवन को दर्शाने का प्रयास किया है।

क्या आपको कुछ अंदाज़ा है कि अंग्रेज़ों से पहले यहाँ बच्चों को किस तरह पढ़ाया जाता था? क्या आपने कभी सोचा है कि उस समय बच्चे स्कूल जाते भी थे या नहीं? और अगर स्कूल थे तो ब्रिटिश शासन के तहत उनका क्या हुआ?

विलियम एडम की रिपोर्ट

1830 के दशक में स्कॉटलैंड से आए ईसाई प्रचारक विलियम एडम ने बंगाल और बिहार के ज़िलों का दौरा किया। कंपनी ने उन्हें देशी स्कूलों में शिक्षा की प्रगति पर रिपोर्ट तैयार करने का जिम्मा सौंपा था। एडम ने जो रिपोर्ट तैयार की वह दिलचस्प थी।

एडम ने पाया कि बंगाल और बिहार में एक लाख से ज़्यादा पाठशालाएँ हैं। ये बहुत छोटे-छोटे केंद्र थे जिनमें आम तौर पर 20 से ज़्यादा विद्यार्थी नहीं होते थे। फिर भी, इन पाठशालाओं में पढ़ने वाले बच्चों की कुल संख्या काफ़ी बड़ी – यानी बीस लाख से भी ज़्यादा – थी। ये पाठशालाएँ सम्पन्न लोगों या स्थानीय समुदाय द्वारा चलाई जा रही थीं। कई पाठशालाएँ स्वयं गुरु द्वारा ही प्रारम्भ की गई थीं।

शिक्षा का तरीका काफ़ी लचीला था। आज आप जिन चीज़ों की स्कूलों से उम्मीद करते हैं उनमें से कुछ चीज़ें उस समय की पाठशालाओं में भी मौजूद थीं। बच्चों की फ़ीस निश्चित नहीं थी। छपी हुई किताबें नहीं होती थीं, पाठशाला की इमारत अलग से नहीं बनाई जाती थी, बेंच और कुर्सियाँ नहीं होती थीं, ब्लैक बोर्ड नहीं होते थे, अलग से कक्षाएँ लेने, बच्चों की हाज़िरी लेने का कोई इंतज़ाम नहीं होता था, सालाना इम्तेहान और नियमित समय-सारणी जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। कुछ पाठशालाएँ बरगद की छाँव में ही चलती थीं तो कई गाँव की किसी दुकान या मंदिर के कोने में या गुरु के घर पर ही बच्चों को पढ़ाया जाता था। बच्चों की फ़ीस उनके माँ-बाप की आमदनी से तय होती थी : अमीरों को ज़्यादा और गरीबों को कम फ़ीस देनी पड़ती थी। शिक्षा मौखिक होती थी और क्या पढ़ाना है यह बात विद्यार्थियों की ज़रूरतों को देखते हुए गुरु ही तय करते थे। विद्यार्थियों को अलग कक्षाओं में नहीं बिठाया जाता था। सभी एक जगह, एक साथ बैठते थे। अलग-अलग स्तर के विद्यार्थियों के साथ गुरु अलग से बात कर लेते थे।

एडम ने पाया कि यह लचीली प्रणाली स्थानीय आवश्यकताओं के लिए काफ़ी अनुकूल है। उदाहरण के लिए, फ़सलों की कटाई के समय कक्षाएँ बंद हो जाती थीं क्योंकि उस समय गाँव के बच्चे प्राय: खेतों में काम करने चले जाते थे। कटाई और अनाज निकल जाने के बाद पाठशाला दोबारा शुरू हो जाती थी। इसका परिणाम यह था कि साधारण काश्तकारों के बच्चे भी पढ़ाई कर सकते थे।

© NCERT not to be republished

गतिविधि

1. कल्पना कीजिए कि आप 1850 के दशक में एक गरीब परिवार में पैदा हुए हैं। अब बताएँ कि सरकार द्वारा नियंत्रित पाठशालाओं पर आपकी क्या राय होगी?
2. क्या आपको मालूम है कि प्राथमिक स्कूलों में दाखिला लेने वाले बच्चों में से लगभग 50 प्रतिशत बच्चे 13-14 साल की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते स्कूल छोड़ चुके होते हैं? क्या आप बता सकते हैं कि इस स्थिति के कारण क्या हैं?

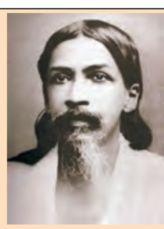

चित्र 9- अरविंदो घोष

अरविंदों घोष ने 15 जनवरी 1908 को बॉम्बे (मुंबई) में अपने एक सम्भाषण में राष्ट्रीय शिक्षा पर बोलते हुए कहा कि इसका लक्ष्य छात्रों में राष्ट्रीयता का भाव जागृत करना है। इसके लिए अपने पूर्वजों के साहसिक कार्यों पर गहराई से चिंतन करना आवश्यक होगा। शिक्षा को मातृ-भाषा में होना चाहिए ताकि यह अधिक-से-अधिक लोगों तक पहुंच सके। अरविंदो ने इस बात पर भी बल दिया कि यद्यपि छात्रों को अपने मूल के साथ जुड़े रहना चाहिए, फिर भी उनको आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों तथा लोकप्रिय शासन व्यवस्था के संदर्भ में पश्चिमी देशों के अनुभव का भी भरपूर लाभ उठाना चाहिए। इसके अतिरिक्त छात्रों को कोई हस्तकला भी सीखनी चाहिए ताकि वे स्कूल छोड़ने पर यथा संभव रोजगार पा सकें।

नई दिनचर्या, नए नियम

उन्नीसवीं सदी के मध्य तक कंपनी का ध्यान मुख्य रूप से उच्च शिक्षा पर था। इसीलिए कंपनी ने स्थानीय पाठशालाओं के कामकाज में कभी ज़्यादा दखल नहीं दिया। 1854 के बाद कंपनी ने देशी शिक्षा व्यवस्था में सुधार लाने का फैसला लिया। कंपनी का मानना था कि इसके लिए मौजूदा व्यवस्था के भीतर ही बदलाव किये जा सकते हैं। कंपनी एक नई दिनचर्या, नए नियमों और नियमित निरीक्षणों के ज़रिए पाठशालाओं को और व्यवस्थित करना चाहती थी।

इसके लिए क्या किया जा सकता था? कंपनी ने क्या कदम उठाए? सबसे पहले तो कंपनी ने बहुत सारे पंडितों को सरकारी नौकरी पर रख लिया। इनमें से प्रत्येक पंडित को 4-5 स्कूलों की देखरेख का जिम्मा सौंपा जाता था। पंडितों का काम पाठशालाओं का दौरा करना और वहाँ अध्यापन की स्थितियों में सुधार लाना था। प्रत्येक गुरु को निर्देश दिया गया कि वे समय-समय पर अपने स्कूल के बारे में रिपोर्ट भेजें और कक्षाओं को नियमित समय-सारणी के अनुसार पढ़ाएँ। अब अध्यापन पाठ्यपुस्तकों पर आधारित होगा और विद्यार्थियों की प्रगति को मापने के लिए वार्षिक परीक्षाओं की रूपरेखा तैयार की जाने लगी। विद्यार्थियों से कहा गया कि वे नियमित रूप से शुल्क दें, नियमित रूप से कक्षा में आएँ, तय सीट पर बैठें और अनुशासन के नियमों का पालन करें।

नए नियमों पर चलने वाली पाठशालाओं को सरकारी अनुदान मिलने लगे। जो पाठशालाएँ नई व्यवस्था के भीतर काम करने को तैयार नहीं थीं उन्हें कोई सरकारी सहायता नहीं दी जाती थी। जिन गुरुओं ने सरकारी निर्देशों का पालन करने की बजाय अपनी स्वतंत्रता बनाए रखी वे सरकारी सहायता प्राप्त और नियमों से चलने वाली पाठशालाओं के सामने कमज़ोर पड़ने लगे।

इन नए नियमों और दिनचर्या का एक और भी नतीजा हुआ। पहले वाली व्यवस्था में गरीब किसानों के बच्चे भी पाठशालाओं में जा सकते थे क्योंकि शालाओं की समय-सारणी काफ़ी लचीली होती थी। नई व्यवस्था के अनुशासन की माँग थी कि बच्चे नियमित रूप से स्कूल आएँ। अब कटाई के मौसम में भी बच्चों का स्कूल में आना ज़रूरी था जबकि उस समय गरीब घरों के बच्चे खेतों में काम करने जाया करते थे। अगर कोई बच्चा स्कूल नहीं आ पाता था तो इसे अनुशासनहीनता माना जाता था यानी, बच्चा पढ़ना-लिखना ही नहीं चाहता।

राष्ट्रीय शिक्षा की कार्यसूची

केवल अंग्रेज़ अफ़सर ही भारत में शिक्षा के बारे में नहीं सोच रहे थे। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत से ही भारत के विभिन्न भागों के बहुत सारे विचारक शिक्षा के व्यापक प्रसार की ज़रूरत पर ज़ोर देने लगे थे। यूरोप में आ रहे बदलावों से प्रभावित कुछ भारतीयों का मानना था कि पश्चिमी शिक्षा भारत का आधुनिकीकरण कर सकती है। उन्होंने अंग्रेज़ों से आह्वान किया कि वे नए स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय खोलें तथा शिक्षा पर ज़्यादा पैसा

© NCERT not to be republished

ख़र्च करें। इस दिशा में हुए कुछ प्रयासों के बारे में आप अध्याय 9 में पढ़ेंगे। परंतु बहुत सारे भारतीय पश्चिमी शिक्षा के विरुद्ध थे। महात्मा गांधी और रवीन्द्रनाथ टैगोर इसी तरह के लोगों में से थे।

आइए देखें कि उनका क्या कहना था।

"अंग्रेज़ी शिक्षा ने हमें गुलाम बना दिया है"

महात्मा गांधी का कहना था कि औपनिवेशिक शिक्षा ने भारतीयों के मस्तिष्क में हीनता का बोध पैदा कर दिया है। इसके प्रभाव में आकर यहाँ के लोग पश्चिमी सभ्यता को श्रेष्ठतर मानने लगे हैं और अपनी संस्कृति के प्रति उनका गौरव भाव नष्ट हो गया है। महात्मा गांधी ने कहा कि इस शिक्षा में विष भरा है, यह पापपूर्ण है, इसने भारतीयों को दास बना दिया है, इसने लोगों पर प्रभाव डाला है। उनके मुताबिक, पश्चिम से अभिभूत, पश्चिम से आने वाली हर चीज़ की प्रशंसा करने वाले, इन संस्थानों में पढ़ने वाले भारतीय ब्रिटिश शासन को पसंद करने लगे थे। महात्मा गांधी एक ऐसी शिक्षा के पक्षधर थे जो भारतीयों के भीतर प्रतिष्ठा और स्वाभिमान का भाव पुनर्जीवित करे। राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान उन्होंने विद्यार्थियों से आह्वान किया कि वे शिक्षा संस्थानों को छोड़ दें और अंग्रेज़ों को बताएँ कि अब वे गुलाम बने रहने के लिए तैयार नहीं हैं।

महात्मा गांधी की दृढ़ मान्यता थी कि शिक्षा केवल भारतीय भाषाओं में ही दी जानी चाहिए। उनके मुताबिक, अंग्रेज़ी में दी जा रही शिक्षा भारतीयों को अपाहिज बना देती है, उसने उन्हें अपने सामाजिक परिवेश से काट दिया है और उन्हें "अपनी ही भूमि पर अजनबी" बना दिया है। उनकी राय में, विदेशी भाषा बोलने वाले, स्थानीय संस्कृति से घृणा करने वाले अंग्रेज़ी शिक्षित भारतीय अपनी जनता से जुड़ने के तौर-तरीके भूल चुके थे।

महात्मा गांधी का कहना था कि पश्चिमी शिक्षा मौखिक ज्ञान की बजाय केवल पढ़ने और लिखने पर केंद्रित है। उसमें पाठ्यपुस्तकों पर तो ज़ोर दिया जाता है लेकिन जीवन अनुभवों और व्यावहारिक ज्ञान की उपेक्षा की जाती है। गांधी का तर्क था कि शिक्षा से व्यक्ति का दिमाग और आत्मा विकसित होनी चाहिए। उनकी राय में केवल साक्षरता – यानी पढ़ने और लिखने की क्षमता पा लेना – ही शिक्षा नहीं होती। इसके लिए तो लोगों को हाथ से काम करना पड़ता है, हुनर सीखने पड़ते हैं और यह जानना पड़ता है कि विभिन्न चीज़ें किस तरह काम करती हैं। इससे उनका मस्तिष्क और समझने की क्षमता, दोनों विकसित होंगे।

चित्र 10 – महात्मा गांधी और कस्तूरबा गांधी शांति निकेतन में रवीन्द्रनाथ टैगोर और लड़कियों की एक टोली के साथ बैठे हैं, 1940.

2019-2020

स्रोत 3

"साक्षरता ही शिक्षा नहीं है"

महात्मा गांधी ने लिखा था :

> शिक्षा से मेरा मतलब इस बात से है कि बालक और मनुष्य के देह, मस्तिष्क और भावना के श्रेष्ठ तत्वों को सामने लाया जाए। साक्षरता न तो शिक्षा का अंत है और न ही उसकी शुरुआत। यह तो केवल एक साधन है जिसके ज़रिए पुरुषों और महिलाओं को शिक्षा दी जा सकती है। साक्षरता अपने आप में शिक्षा नहीं होती। लिहाज़ा, मैं बच्चों को शिक्षित करते हुए सबसे पहले उन्हें कोई उपयोगी हस्तकौशल सिखाऊँगा और उन्हें शुरू से ही कुछ रचने, पैदा करने के लिए तैयार करूँगा...। मेरा मानना है कि दिमाग और आत्मा का सर्वोच्च विकास इस तरह की शिक्षा में ही संभव है। प्रत्येक हस्तकौशल आज की तरह केवल यांत्रिक ढंग से ही नहीं बल्कि वैज्ञानिक ढंग से पढ़ाया जाना चाहिए, यानी बच्चे को प्रत्येक प्रक्रिया के क्यों और किसलिए का पता होना चाहिए।

द *कलैक्टिड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, खंड 72, पृ. 79*

जैसे-जैसे राष्ट्रीय भावना का प्रसार हुआ, कई दूसरे विचारक भी एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के बारे में सोचने लगे जो अंग्रेज़ों द्वारा स्थापित की गई व्यवस्था से आमूल तौर पर भिन्न हो।

टैगोर का "शांतिनिकेतन"

आप में से बहुत सारे दोस्तों ने शांतिनिकेतन के बारे में सुना होगा। क्या आप जानते हैं कि इसकी स्थापना किसने और क्यों की थी?

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने यह संस्था 1901 में शुरू की थी। टैगोर जब बच्चे थे तो स्कूल जाने से बहुत चिढ़ते थे। वहाँ उनका दम घुटता था। उन्हें स्कूल का माहौल दमनकारी लगता था। टैगोर को ऐसे लगता था मानो स्कूल कोई जेल हो, क्योंकि वहाँ बच्चे मनचाहा कभी नहीं कर पाते थे। जब दूसरे बच्चे शिक्षक को सुन रहे होते थे, टैगोर का दिमाग कहीं और भटक रहा होता था।

कलकत्ता के अपने स्कूल जीवन के अनुभवों ने शिक्षा के बारे में टैगोर के विचारों को काफ़ी प्रभावित किया। जब वे बड़े हुए तो उन्होंने एक ऐसा स्कूल खोलने के बारे में सोचा जहाँ बच्चे

***चित्र 11** – शांतिनिकेतन में एक कक्षा चल रही है, 1930 का दशक।*

आस-पास का माहौल देखिए, चारों तरफ पेड़ और खुली जगह है।

खुश रह सकें, जहाँ वे मुक्त और रचनाशील हों, जहाँ वे अपने विचारों और आकांक्षाओं को समझ सकें। टैगोर को लगता था कि बचपन का समय अपने आप सीखने का समय होना चाहिए। वह अंग्रेज़ों द्वारा स्थापित की गई शिक्षा व्यवस्था के कड़े और बंधनकारी अनुशासन से मुक्त होना चाहिए। शिक्षक कल्पनाशील हों, बच्चों को समझते हों और उनके अंदर उत्सुकता, जानने की चाह विकसित करने में मदद दें। टैगोर के मुताबिक, वर्तमान स्कूल बच्चे की रचनाशीलता, चकित होने के उसके स्वाभाविक गुण को मार देते हैं।

टैगोर का मानना था कि सृजनात्मक शिक्षा को केवल प्राकृतिक परिवेश में ही प्रोत्साहित किया जा सकता है। इसीलिए उन्होंने कलकत्ता से 100 किलोमीटर दूर एक ग्रामीण परिवेश में अपना स्कूल खोलने का फैसला लिया। उन्हें यह जगह निर्मल शांति से भरी (शांतिनिकेतन) दिखाई दी जहाँ प्रकृति के साथ जीते हुए बच्चे अपनी स्वाभाविक सृजनात्मक मेधा को और विकसित कर सकते थे।

बहुत सारे मामलों में टैगोर और महात्मा गांधी शिक्षा के बारे में कमोबेश एक जैसी राय रखते थे। लेकिन दोनों के बीच फ़र्क़ भी थे। गांधीजी पश्चिमी सभ्यता और मशीनों व प्रौद्योगिकी की उपासना के कट्टर आलोचक थे। टैगोर आधुनिक पश्चिमी सभ्यता और भारतीय परंपरा के श्रेष्ठ तत्वों का सम्मिश्रण चाहते थे। उन्होंने शांतिनिकेतन में कला, संगीत और नृत्य के साथ-साथ विज्ञान और प्रौद्योगिकी की शिक्षा पर भी ज़ोर दिया।

इस प्रकार, बहुत सारे लोग इस बारे में सोचने लगे थे कि एक राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली की रूपरेखा क्या होनी चाहिए। कुछ लोग अंग्रेज़ों द्वारा स्थापित की गई व्यवस्था में परिवर्तन चाहते थे। उनका मानना था कि इसी व्यवस्था को इस तरह फैलाया जाए कि उसमें ज़्यादा से ज़्यादा लोगों को पढ़ने के मौके मिलें। इसके विपरीत बहुत सारे लोग ऐसे भी थे जो एक वैकल्पिक व्यवस्था चाहते थे ताकि लोगों को सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय संस्कृति की शिक्षा दी जा सके। कौन तय करे कि सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय क्या होता है? इस "राष्ट्रीय शिक्षा" की बहस स्वतंत्रता के बाद भी जारी रही।

***चित्र 12** – कोयम्बटूर के एक प्रचारक स्कूल में खेल रहे बच्चे, बीसवीं सदी का प्रारंभ।*

उन्नीसवीं सदी के मध्य तक ईसाई प्रचारक और भारतीय सुधारवादी संगठन लड़कियों के लिए स्कूल खोलने लगे थे।

© NCERT not to be republished

अन्यत्र

सभ्य करने के लिए शिक्षा

1870 में शिक्षा अधिनियम लागू होने तक आमतौर पर पूरी आबादी के लिए व्यापक शिक्षा व्यवस्था नहीं थी। बाल मज़दूरी बहुत बड़े पैमाने पर थी इसलिए गरीब अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेज पाते थे। परिवार चलाने के लिए उनकी आय महत्त्वपूर्ण थी। स्कूल भी बहुत कम थे। ज़्यादातर स्कूल चर्च या रईसों द्वारा स्थापित किए गए थे। शिक्षा अधिनियम लागू होने के बाद सरकार ने नए-नए स्कूल खोलने शुरू किए और अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान किया गया।

टॉमस आरनॉल्ड उस दौर के सबसे महत्त्वपूर्ण शैक्षणिक विचारकों में से एक थे। वह रग्बी नामक प्राइवेट स्कूल के मुख्य अध्यापक थे। माध्यमिक स्कूल की पाठ्यचर्या में 2000 साल पुरानी ग्रीक और रोमन शास्त्रीय कृतियों के विस्तृत अध्ययन की हिमायत करते हुए उन्होंने कहा था :

> मुझे हमेशा ऐसा प्रतीत हुआ कि हमारे अंग्रेज़ी स्कूलों में जो अध्ययन क्रम अपनाया जाता है उसकी सबसे अच्छी बात यह है कि वह हमारे दिमाग को लगातार अतीत के बारे में सोचने के लिए प्रेरित करता है। हर रोज हम भाषाओं, इतिहास और कुछ साल पहले या हज़ारों साल पहले के विचारों को पढ़ते रहते हैं...।

आरनॉल्ड का मानना था कि शास्त्रीय कृतियों के अध्ययन से दिमाग अनुशासित होता है। वास्तव में, उस काल के ज़्यादातर शिक्षाविदों की मान्यता थी कि इस तरह का अनुशासन बहुत ज़रूरी है क्योंकि बच्चे स्वाभाविक रूप से असभ्य होते हैं और उन्हें नियंत्रित करना आवश्यक है। सभ्य वयस्क के रूप में विकसित होने के लिए उन्हें मालूम होना चाहिए कि समाज में सही और गलत क्या है और उचित और अनुचित आचरण क्या होता है। शिक्षा, खासतौर से बच्चों के दिमाग को अनुशासित करने वाली शिक्षा, का मकसद उन्हें इसी मार्ग पर आगे ले जाना था।

क्या आप बता सकते हैं कि इस तरह के विचारों ने इंग्लैंड में गरीबों तथा उपनिवेशों में "देशी जनता" की शिक्षा से संबंधित सोच को किस तरह प्रभावित किया होगा?

© NCERT not to be republished

आइए कल्पना करें

कल्पना कीजिए कि अंग्रेज़ी शिक्षा पर महात्मा गांधी और मैकॉले के बीच चर्चा चल रही है और आप ध्यान से चर्चा सुन रहे हैं। आप एक पन्ने में लिखें कि दोनों क्या कह रहे हैं।

फिर से याद करें

1. निम्नलिखित के जोड़े बनाएँ :

विलियम जोन्स	अंग्रेज़ी शिक्षा को प्रोत्साहन
रवीन्द्रनाथ टैगोर	प्राचीन संस्कृतियों का सम्मान
टॉमस मैकॉले	गुरु
महात्मा गांधी	प्राकृतिक परिवेश में शिक्षा
पाठशालाएँ	अंग्रेज़ी शिक्षा के विरुद्ध

2. निम्नलिखित में से सही या गलत बताएँ :

(क) जेम्स मिल प्राच्यवादियों के घोर आलोचक थे।

(ख) 1854 के शिक्षा संबंधी डिस्पैच में इस बात पर ज़ोर दिया गया था कि भारत में उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी होना चाहिए।

(ग) महात्मा गांधी मानते थे कि साक्षरता बढ़ाना ही शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है।

(घ) रवीन्द्रनाथ टैगोर को लगता था कि बच्चों पर सख्त अनुशासन होना चाहिए।

आइए विचार करें

3. विलियम जोन्स को भारतीय इतिहास, दर्शन और कानून का अध्ययन क्यों ज़रूरी दिखाई देता था?

4. जेम्स मिल और टॉमस मैकॉले ऐसा क्यों सोचते थे कि भारत में यूरोपीय शिक्षा अनिवार्य है?

5. महात्मा गांधी बच्चों को हस्तकलाएँ क्यों सीखाना चाहते थे?

6. महात्मा गांधी ऐसा क्यों सोचते थे कि अंग्रेज़ी शिक्षा ने भारतीयों को गुलाम बना लिया है?

आइए करके देखें

7. अपने घर के बुर्जुगों से पता करें कि स्कूल में उन्होंने कौन-कौन सी चीज़ें पढ़ी थीं?

8. अपने स्कूल या आस-पास के किसी अन्य स्कूल के इतिहास का पता लगाएँ।

© NCERT not to be republished

8 महिलाएँ, जाति एवं सुधार

0865CH08

क्या आपने कभी सोचा है कि दो सौ साल पहले बच्चों की ज़िंदगी कैसी रही होगी? आजकल मध्यवर्गीय परिवारों की ज़्यादातर लड़कियाँ स्कूल जाती हैं और उनमें से बहुत सारी लड़कों के साथ पढ़ती हैं। बड़ी होने पर उनमें से बहुत सारी लड़कियाँ कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में जाती हैं और विभिन्न प्रकार की नौकरियाँ करती हैं। कानूनन शादी के लिए उनका बालिग होना ज़रूरी है और कानून के अनुसार, वे किसी भी जाति व समुदाय के व्यक्ति से शादी कर सकती हैं। यहाँ तक कि विधवाएँ भी दोबारा शादी कर सकती हैं। पुरुषों की तरह सभी महिलाएँ वोट डाल सकती हैं और चुनाव लड़ सकती हैं। बेशक, सभी महिलाएँ इन अधिकारों का उपभोग नहीं कर पातीं। गरीबों को शिक्षा के मौके मुश्किल से मिलते हैं, कम मिलते हैं या मिल ही नहीं पाते। बहुत सारे परिवारों में लड़कियाँ अपनी इच्छानुसार पति भी नहीं चुन सकतीं।

चित्र 1 – सती, बालथाज़र सॉल्विन द्वारा बनाया गया चित्र, 1813.

भारत आने वाले यूरोपीय चित्रकारों द्वारा बनाई गई सती की बहुत सारी तसवीरों में से यह एक है। सती प्रथा को पूर्वी समाजों की बर्बरता के सबूत के तौर पर देखा जाता था।

दो सौ साल पहले हालात बहुत भिन्न थे। ज़्यादातर बच्चों की शादी बहुत कम उम्र में ही कर दी जाती थी। हिंदू व मुसलमान, दोनों धर्मों के पुरुष एक से ज़्यादा पत्नियाँ रख सकते थे। देश के कुछ भागों में विधवाओं से ये उम्मीद की जाती थी कि वे अपने पति की चिता के साथ ही जिंदा जल जाएँ। इस तरह स्वेच्छा से या जबरदस्ती मार दी गई महिलाओं को "सती" कहकर महिमामंडित किया जाता था। 'सती' शब्द का अर्थ ही सदाचारी महिला था। संपत्ति पर भी महिलाओं के अधिकार बहुत सीमित थे। शिक्षा तक महिलाओं की प्राय: कोई पहुँच नहीं थी। देश के बहुत सारे भागों में लोगों का विश्वास था कि अगर औरत पढ़ी-लिखी होगी तो वह जल्दी विधवा हो जाएगी।

समाज में सिर्फ स्त्रियों और पुरुषों के बीच ही फर्क नहीं था। ज़्यादातर इलाकों में लोग जातियों में भी बँटे हुए थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय खुद को "ऊँची जाति" का मानते थे। इसके बाद व्यापार और महाजनी आदि से जुड़ी जातियों (जिन्हें प्रायः वैश्य कहा जाता था) का स्थान आता था। फिर काश्तकार, बुनकर व कुम्हार जैसे दस्तकार आते थे (जिन्हें शूद्र कहा जाता था)। इस श्रेणीक्रम की सबसे निचली पायदान पर ऐसी जातियाँ थीं जो गाँवों-शहरों को साफ-सुथरा रखती थीं या ऐसे काम धंधे करती थीं जिन्हें ऊँची जातियों के लोग "दूषित कार्य" मानते थे यानी ऐसे काम जिनकी वजह से उनकी जाति 'भ्रष्ट' हो जाती थी। ऊँची जातियाँ निचले पायदान पर खड़ी इन जातियों के लोगों को "अछूत" मानती थीं। इन लोगों को मंदिरों में प्रवेश करने, सवर्ण जातियों के इस्तेमाल वाले कुओं से पानी निकालने या ऊँची जातियों के अधिपत्य वाले घाट-तालाबों पर नहाने की छूट नहीं होती थी। उन्हें निम्न दर्जे का मनुष्य माना जाता था।

उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के दौरान इनमें से बहुत सारे कायदे-कानून और नज़रिये धीरे-धीरे बदलते गए। आइए देखें कि ऐसा कैसे हुआ।

परिवर्तन की दिशा में उठते कदम

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत से ही हमें सामाजिक रीति-रिवाज़ों और मूल्य-मान्यताओं से संबंधित बहस-मुबाहिसे और चर्चाओं का स्वरूप बदलता दिखाई देता है। इसकी एक अहम वजह यह थी कि संचार के नए तरीके विकसित हो रहे थे। पहली बार किताबें, अखबार, पत्रिकाएँ, पर्चे और पुस्तिकाएँ छप रही थीं। ये चीज़ें न केवल पुराने साधनों के मुकाबले सस्ती थीं बल्कि उन पांडुलिपियों के मुकाबले ज़्यादा लोगों की पहुँच में भी थीं जिनके बारे में आप कक्षा 7 में पढ़ चुके हैं। लिहाज़ा, आम लोग भी उन चीज़ों को पढ़ सकते थे। उनमें से बहुत सारे अपनी भाषाओं में लिख सकते थे और अपने विचार व्यक्त कर सकते थे। नए शहरों में तमाम तरह के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक मुद्दों पर पुरुषों (और कभी-कभी महिलाओं) के बीच चर्चा होती रहती थी। ये चर्चाएँ आम जनता तक पहुँच सकती थीं और सामाजिक परिवर्तन के आंदोलनों से जुड़ी होती थीं।

इस तरह की बहसें अकसर भारतीय सुधारकों और सुधार संगठनों की तरफ से शुरू होती थीं। राजा राममोहन रॉय (1772-1833) इसी तरह के एक सुधारक थे। उन्होंने कलकत्ता में ब्रह्मो सभा के नाम से एक सुधारवादी संगठन बनाया था (जिसे बाद में ब्रह्मो समाज के नाम से जाना गया)। राममोहन रॉय जैसे लोगों को सुधारक इसलिए कहा जाता है क्योंकि वे मानते थे कि समाज में परिवर्तन लाना और अन्यायपूर्ण तौर-तरीकों से छुटकारा पाना ज़रूरी है। उनका विचार था कि इस तरह के परिवर्तन लाने के लिए लोगों को इस बात के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए कि वे पुराने व्यवहार को छोड़कर जीवन का नया ढंग अपनाने के लिए तैयार हों।

गतिविधि

क्या आप बता सकते हैं कि जब किताबें, समाचारपत्र और पर्चे आदि छापने की तकनीक नहीं थी उस समय सामाजिक रीति-रिवाज़ों और व्यवहारों के बारे में किस तरह चर्चा चलती होगी?

2019-2020

चित्र 2 – राजा राममोहन रॉय, रेमब्रांट पील द्वारा बनाया गया चित्र, 1833.

राममोहन रॉय देश में पश्चिमी शिक्षा का प्रसार करने और महिलाओं के लिए ज़्यादा स्वतंत्रता व समानता के पक्षधर थे। उन्होंने इस बारे में लिखा है कि किस तरह महिलाओं को जबरन घरेलू कामों से बाँधकर रखा जाता था, उनकी दुनिया घर और रसोई तक ही सीमित कर दी जाती थी और उन्हें बाहर जाकर पढ़ने-लिखने की इजाज़त नहीं दी जाती थी।

विधवाओं की ज़िंदगी में बदलाव लाने की कोशिश

राममोहन रॉय इस बात से काफ़ी दुखी थे कि विधवा औरतों को अपनी ज़िंदगी में भारी कष्टों का सामना करना पड़ता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने सती प्रथा के खिलाफ़ मुहिम छेड़ी थी।

राममोहन रॉय संस्कृत, फ़ारसी तथा अन्य कई भारतीय एवं यूरोपीय भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने अपने लेखन के ज़रिए यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि प्राचीन ग्रंथों में विधवाओं को जलाने की अनुमति कहीं नहीं दी गई है। जैसा कि आपने अध्याय 7 में पढ़ा है, उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ तक बहुत सारे अंग्रेज़ अफ़सर भी भारतीय परंपराओं और रीति-रिवाज़ों की आलोचना करने लगे थे। वे राममोहन रॉय के विचारों को सही मानते थे क्योंकि उनकी एक विद्वान व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठा थी। फलस्वरूप, 1829 में सती प्रथा पर पाबंदी लगा दी गई।

राममोहन रॉय ने इस अभियान के लिए जो रणनीति अपनाई उसे बाद के सुधारकों ने भी अपनाया। जब भी वे किसी हानिकारक प्रथा को चुनौती देना चाहते थे तो अकसर प्राचीन धार्मिक ग्रंथों से ऐसे श्लोक या वाक्य ढूँढ़ने का प्रयास करते थे जो उनकी सोच का समर्थन करते हों। इसके बाद वे दलील देते थे कि संबंधित वर्तमान रीति-रिवाज़ प्रारंभिक परंपरा के ख़िलाफ़ हैं।

चित्र 3 – कुंडों पर झूलने का त्योहार।

इस लोकप्रिय त्योहार में भक्त पारंपरिक अनुष्ठानों के तहत अजीब तरह से कष्ट सहने का अभ्यास करते थे। वे अपनी खाल में कुंडा भेदकर एक झूले पर लटक जाते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में जब यूरोपीय अफ़सरों ने भारतीय रीति-रिवाज़ों और अनुष्ठानों को बर्बर कहकर उनकी आलोचना शुरू की तो इस त्योहार की खासतौर से आलोचना की गई।

© NCERT not to be republished

स्रोत 1

"पहले हम उन्हें लकड़ियों में बाँध देते हैं"

राममोहन रॉय ने अपने विचारों का प्रसार करने के लिए बहुत सारे पर्चे लिखे थे। इनमें से कुछ पर्चे किसी खास रिवाज़ के समर्थक और आलोचकों के बीच बहस के रूप में लिखे गए थे। सती प्रथा के बारे में इसी तरह का एक उदाहरण देखिए:

सती समर्थक :

औरतें कुदरती तौर पर कम समझदार, बिना दृढ़ संकल्प वाली, भरोसे के योग्य नहीं होती हैं। ...उनमें से बहुत सारी खुद ही अपने पति की मृत्यु के बाद उसके साथ जाने की कामना करने लगती हैं; परंतु वे कहीं धधकती आग से भाग न निकलें, इसलिए पहले हम उन्हें चिता की लकड़ियों में कस कर बाँध देते हैं।

सती विरोधी :

आप लोगों ने महिलाओं को अपनी स्वाभाविक क्षमता का प्रदर्शन करने का सही मौका ही कब दिया? फिर भला तुम ये कैसे कह सकते हो कि उनमें समझ नहीं होती? अगर ज्ञान और शिक्षा के बाद भी कोई व्यक्ति न समझ सकता हो या पढ़ाई गई चीज़ों को ग्रहण न कर पाए तो हम उसे अक्षम मान सकते हैं; परंतु अगर तुम औरतों को पढ़ने का मौका ही नहीं दोगे तो तुम उन्हें कमतर कैसे कह सकते हो!

गतिविधि

ये संवाद 175 साल से भी ज़्यादा पहले के हैं। आपने भी अपने आसपास महिलाओं के महत्त्व और क्षमताओं के बारे में तरह-तरह के तर्क सुने होंगे। उन्हें लिखें। देखें कि तब और अब की दलीलों में क्या फर्क आया है?

उदाहरण के लिए, प्रसिद्ध सुधारक ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने भी विधवा विवाह के पक्ष में प्राचीन ग्रंथों का ही हवाला दिया था। अंग्रेज़ सरकार ने उनका यह सुझाव मान लिया और 1856 में विधवा विवाह के पक्ष में एक कानून पारित कर दिया। जो विधवाओं के विवाह का विरोध करते थे उन्होंने विद्यासागर का भी विरोध किया और यहाँ तक कि उनका बहिष्कार कर दिया।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध तक विधवा विवाह के पक्ष में चलाया जा रहा आंदोलन देश के अन्य भागों में भी फैल गया था। मद्रास प्रेज़ीडेंसी के तेलुगू भाषी इलाकों में वीरेशलिंगम पंतुलु ने विधवा विवाह के समर्थन में एक संगठन बनाया था। लगभग उसी समय बम्बई में युवा बुद्धिजीवियों और सुधारकों ने भी विधवा विवाह के प्रचार-प्रसार का संकल्प लिया। उत्तर में आर्य समाज की स्थापना करने वाले स्वामी दयानंद सरस्वती ने भी विधवा विवाह का समर्थन किया।

इसके बावजूद विवाह करने वाली विधवा महिलाओं की संख्या काफ़ी कम थी। विवाह करने वाली विधवाओं को समाज में आसानी से स्वीकार नहीं किया जाता था। इस तरह, रूढ़िवादी तबके इस नए कानून का विरोध करते रहे।

***चित्र 4** – स्वामी दयानंद सरस्वती।*

दयानंद ने 1875 में आर्य समाज की स्थापना की थी। आर्य समाज ने हिंदू धर्म को सुधारने का प्रयास किया था।

चित्र 5 – ईश्वरचंद्र विद्यासागर।

लड़कियाँ स्कूल जाने लगती हैं

बहुत सारे सुधारकों को लगता था कि महिलाओं की दशा सुधारने के लिए लड़कियों को शिक्षित करना ज़रूरी है।

कलकत्ता में विद्यासागर और बम्बई में बहुत सारे अन्य सुधारकों ने लड़कियों के लिए स्कूल खोले। उन्नीसवीं सदी के मध्य में जब इस तरह के प्रारंभिक स्कूल खुले तो बहुत सारे लोग उनसे डरते थे। लोगों को भय था कि स्कूल वाले लड़कियों को घर से निकाल ले जाएँगे और उन्हें घरेलू कामकाज नहीं करने देंगे। स्कूल जाने के लिए लड़कियों को सार्वजनिक स्थानों से गुजर कर जाना पड़ता था। बहुत सारे लोगों को लगता था कि इससे लड़कियाँ बिगड़ जाएँगी। उनकी मान्यता थी कि लड़कियों को सार्वजनिक स्थानों से दूर रहना चाहिए। फलस्वरूप, उन्नीसवीं सदी में पढ़ने-लिखने वाली ज़्यादातर महिलाओं को उनके उदार विचारों वाले पिता या पति की देखरेख में घर पर ही पढ़ाया जाता रहा। कई महिलाओं ने बिना किसी की मदद लिए खुद ही पढ़ना-लिखना सीखा। क्या आपको याद है पिछले साल की *सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन* पुस्तक में आपने राशसुंदरी देबी के बारे में क्या पढ़ा था? वे ऐसी महिलाओं में से थीं जिन्होंने रात में दीये की टिमटिमाती लौ में चोरी-छिपे ही लिखना-पढ़ना सीखा था।

उन्नीसवीं सदी के आख़िरी हिस्से में आर्य समाज द्वारा पंजाब में और ज्योतिराव फुले द्वारा महाराष्ट्र में लड़कियों के लिए स्कूल खोले गए।

उत्तर भारत के कुलीन मुसलिम परिवारों की महिलाएँ अरबी में क़ुरान शरीफ़ पढ़ना सीखने लगीं। उन्हें घर पर ही पढ़ाने के लिए शिक्षिकाएँ रखी जाती थीं। इस स्थिति को देखते हुए मुमताज़ अली जैसे कुछ सुधारकों ने क़ुरान शरीफ़ की आयतों का हवाला देकर कहा कि महिलाओं को भी शिक्षा का अधिकार मिलना चाहिए। उन्नीसवीं सदी के आख़िर से ही उर्दू में उपन्यासों का सिलसिला शुरू हुआ। इन उपन्यासों में महिलाओं को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता था कि वे धर्म और घरेलू साज-सँभाल के बारे में पढ़ें।

चित्र 6 – हिंदू महाविद्यालय की छात्राएँ, 1875.

उन्नीसवीं शताब्दी में जब लड़कियों के लिए स्कूल खोले गए तो आमतौर पर माना जाता था कि लड़कियों की पढ़ाई-लिखाई लड़कों की पढ़ाई-लिखाई से कम सख्त होनी चाहिए। हिंदू महिला विद्यालय ऐसे शुरुआती संस्थानों में से था जहाँ वही शिक्षा दी जाती थी जो उस समय लड़कों को दी जा रही थी।

महिलाओं के बारे में महिलाएँ लिखने लगीं

बीसवीं सदी की शुरुआत से ही बहुत सारी मुसलिम महिलाओं ने महिला शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए अहम भूमिका अदा की। जैसे, भोपाल की बेगमों ने अलीगढ़ में लड़कियों के लिए प्राथमिक स्कूल खोला। बेगम रुकैया सख़ावत हुसैन भी इस दौर की एक प्रभावशाली महिला थीं जिन्होंने कलकत्ता और पटना में मुसलिम लड़कियों के लिए स्कूल खोले। वह रूढ़िवादी विचारों की कटु

आलोचक थीं और उनका मानना था कि प्रत्येक धर्म के धार्मिक नेताओं ने औरतों को निचले दर्जे में रखा है।

1880 के दशक तक आते-आते भारतीय महिलाएँ विश्वविद्यालयों में प्रवेश लेने लगी थीं। उनमें से कुछ चिकित्सक और कुछ शिक्षिका बन गईं। बहुत सारी महिलाएँ लिखने लगीं और उन्होंने समाज में महिलाओं की स्थिति पर अपने आलोचनात्मक विचार प्रकाशित किए। पूना में घर पर ही रहकर शिक्षा प्राप्त करने वाली ताराबाई शिंदे ने *स्त्रीपुरुषतुलना* नाम से एक किताब प्रकाशित की जिसमें पुरुषों और महिलाओं के बीच मौजूद सामाजिक फर्कों की आलोचना की गई थी।

चित्र 7 – *पंडिता रमाबाई।*

संस्कृत की महान विद्वान पंडिता रमाबाई का मानना था कि हिंदू धर्म महिलाओं का दमन करता है। उन्होंने ऊँची जातियों की हिंदू महिलाओं की दुर्दशा पर एक किताब भी लिखी थी। उन्होंने पूना में एक विधवागृह की स्थापना की जहाँ ससुराल वालों के हाथों अत्याचार झेल रही महिलाओं को पनाह दी जाती थी। वहाँ महिलाओं को ऐसी चीज़ें सिखाई जाती थीं जिनके सहारे वे अपनी रोज़ी-रोटी चला सकें।

ज़ाहिर है कि इन सब बातों से रूढ़िवादी खेमे के लोग काफ़ी आग-बबूला हुए। उदाहरण के लिए, बहुत सारे हिंदू राष्ट्रवादियों को लगने लगा था कि हिंदू महिलाएँ पश्चिमी तौर-तरीके अपना रही हैं जिससे हिंदू संस्कृति भ्रष्ट होगी और पारिवारिक संस्कार नष्ट हो जाएँगे। रूढ़िवादी मुसलमान भी इन बदलावों के नतीजों को लेकर चिंतित थे।

जैसा कि आप देख सकते हैं, उन्नीसवीं सदी के आख़िर तक खुद महिलाएँ भी सुधारों के लिए बढ़-चढ़ कर प्रयास करने लगी थीं। उन्होंने किताबें लिखीं, पत्रिकाएँ निकालीं, स्कूल और प्रशिक्षण केंद्र खोले तथा महिलाओं को संगठित किया। बीसवीं सदी की शुरुआत से वे महिलाओं को मताधिकार, बेहतर स्वास्थ्य सुविधाएँ और शिक्षा के अधिकार के बारे में कानून बनवाने के लिए राजनीतिक दवाब समूह बनाने लगी थीं। उनमें से कुछ महिलाओं ने 1920 के दशक के बाद विभिन्न प्रकार के राष्ट्रवादी और समाजवादी आंदोलनों में हिस्सा भी लिया।

बीसवीं शताब्दी में, जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस जैसे नेताओं ने महिलाओं के लिए और अधिक स्वतंत्रता व समानता की माँगों का समर्थन किया। राष्ट्रीय नेताओं ने आश्वासन दिया कि स्वतंत्रता मिलने पर सभी पुरुषों व महिलाओं को वोट डालने का अधिकार दे दिया जाएगा। परंतु उनका आह्वान था कि जब तक स्वतंत्रता नहीं मिल जाती तब तक महिलाओं को अंग्रेज़ी राज विरोधी संघर्ष में ही ज़ोर लगाना चाहिए।

स्रोत 2

जब औरत का पति मर जाता है...

अपनी पुस्तक *स्त्रीपुरुषतुलना* में ताराबाई शिंदे ने लिखा था :

क्या औरत को अपनी ज़िंदगी उतनी ही प्यारी नहीं होती जितनी कि तुम्हें तुम्हारी ज़िंदगी प्यारी है? ये तो कुछ ऐसी बात हो गई मानो महिलाएँ पुरुषों से बिलकुल अलग चीज़ों से बनी हों, मानो वे धूल या चट्टानों या ज़ंग लगे लोहे से बनी हों और तुम व तुम्हारी ज़िंदगी शुद्ध सोने की बनी हो। ...तुम मुझसे पूछते हो कि मेरा क्या मतलब है। मेरा मतलब यह है कि जब औरत का पति मर जाता है, ...तो उसका क्या हश्र होता है? नाई आता है और उसके लहराते बाल साफ कर देता है, सिर्फ इसलिए कि तुम्हारी आँखों को ठंडक पड़ जाए। ...उसे शादी-ब्याह, आवोभगत और उन शुभ अवसरों से बहिष्कृत कर दिया जाता है जहाँ विवाहित महिलाएँ जाती हैं। और भला इन पाबंदियों की वजह क्या है? क्योंकि उसका पति मर चुका है। वह अभागी है : दुर्भाग्य उसके माथे पर खुदा हुआ है। उसका चेहरा देखा नहीं जाता, यह अशुभ होता है।

ताराबाई शिंदे, *स्त्रीपुरुषतुलना*

© NCERT not to be republished

बाल विवाह के विरुद्ध कानून

महिला संगठनों के विकास तथा इन मुद्दों पर हो रहे लेखन की वजह से सुधारों के पक्ष में आवाज़ और मजबूत हुई। लोग बाल विवाह जैसी स्थापित परंपराओं को चुनौती देने लगे। केन्द्रीय विधान सभा में बहुत सारे सांसद थे जिन्होंने बाल विवाह पर पाबंदी हेतु कानून बनाने के लिए संघर्ष किया। 1929 में बाल विवाह निषेध अधिनियम पारित किया गया। इस कानून के बारे में वैसी कड़वी बहसें और संघर्ष नहीं हुए जैसे पुराने सुधारवादी कानूनों के बारे में हुए थे। इस कानून के अनुसार 18 साल से कम उम्र के लड़के और 16 साल से कम उम्र की लड़की की शादी नहीं की जा सकती। बाद में, यह उम्र बढ़ाकर क्रमशः 21 साल व 18 साल कर दी गई।

***चित्र 8** – आठ साल की दुल्हन।*

यह बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में एक बाल वधू का चित्र है। क्या आपको पता है कि आज भी हमारे देश में 20 प्रतिशत से ज़्यादा लड़कियों की शादी 18 साल से पहले ही हो जाती है?

© NCERT not to be republished

जाति और समाज सुधार

हमने अभी जिन समाज सुधारकों का जिक्र किया है उनमें से कई जातीय गैर–बराबरी के भी विरोधी थे। राममोहन रॉय ने जाति व्यवस्था की आलोचना करने वाले एक पुराने बौद्ध ग्रंथ का अनुवाद किया। प्रार्थना समाज भक्ति परंपरा का समर्थक था जिसमें सभी जातियों की आध्यात्मिक समानता पर ज़ोर दिया गया था। जाति उन्मूलन के लिए काम करने के लिए बम्बई में 1840 में परमहंस मंडली का गठन किया गया। इन सुधारकों और सुधार संगठनों के सदस्यों में से बहुत सारे ऊँची जातियों के लोग थे। गुप्त बैठकों में ये सुधारक भोजन और स्पर्श जैसे मामलों में जातीय कायदे–कानूनों का उल्लंघन करते थे जिससे अपने जीवन में भी जातीय पूर्वाग्रहों और बंधनों से निजात पा सकें।

कई लोग ऐसे थे जो जाति आधारित समाज व्यवस्था में होने वाले अन्याय के विरुद्ध थे। उन्नीसवीं सदी में ईसाई प्रचारक आदिवासी समुदायों और "निचली" जातियों के बच्चों के लिए स्कूल खोलने लगे थे। इस प्रकार, इन बच्चों को बदलती दुनिया में अपना रास्ता ढूँढ़ने के नए साधन मिलने लगे थे।

उसी समय बहुत सारे गरीब लोग शहरों में निकल रही नई नौकरियों की तलाश में गाँव छोड़कर भी जा रहे थे। नए कारखानों और नगरपालिकाओं में नई नौकरियाँ निकल रही थीं। अध्याय 6 में आप शहरों के विस्तार के बारे

में पढ़ चुके हैं। कल्पना कीजिए कि इससे मज़दूरी की कितनी माँग पैदा हुई होगी। शहरों में नालियाँ बनाई जानी थीं, सड़कें बिछनी थीं, इमारतों का निर्माण होना था और शहरों को साफ किया जाना था। इसके लिए कुलियों, खुदाई करने वालों, बोझा ढोने वालों, ईंट बनाने वालों, नालियाँ साफ करने वालों, सफाईकर्मियों, पालकी ढोने वालों, रिक्शा खींचने वालों की ज़रूरत थी। यह श्रम कहाँ से आया? इन कामों को सँभालने के लिए गाँवों और छोटे कस्बों के गरीब शहरों की तरफ जाने लगे जहाँ मज़दूरी की माँग पैदा हो रही थी। शहर जाने वालों में से बहुत सारे ''निम्न'' जातियों के लोग भी थे। कुछ लोग असम, मॉरिशस, त्रिनीदाद और इंडोनेशिया आदि स्थानों पर बागानों में काम करने भी चले गए। नए स्थानों पर काम अकसर बहुत कठोर था। परंतु गरीबों, निचली जातियों के लोगों को यह गाँवों में सवर्ण ज़मींदारों द्वारा उनके जीवन पर दमनकारी कब्ज़े और दैनिक अपमान से छूट निकलने का एक मौका था।

चित्र 9 *– एक कुली जहाज़, उन्नीसवीं शताब्दी।*

जॉन एलेन नामक इस कुली जहाज़ के द्वारा भारतीय मजदूरों को मॉरिशस ले जाया जाता था जहाँ उन्हें तरह-तरह के कठोर काम करने पड़ते थे। इनमें से ज़्यादातर मज़दूर निचली जातियों के होते थे।

जूते कौन बना सकता है?

चमड़े का काम करने वालों को परंपरागत रूप से नीची नज़र से देखा जाता है क्योंकि वे मृत पशुओं का चमड़ा निकालते हैं जिन्हें गंदा व दूषित माना जाता है। पहले विश्व युद्ध के दौरान सेना के लिए जूतों की जबरदस्त माँग पैदा हो गई थी। परंतु चमड़े के कामों के प्रति जातीय पूर्वाग्रहों की वजह से केवल परंपरागत चमड़ा कामगार और मोची ही जूते तैयार कर सकते थे। लिहाज़ा, वे ज़्यादा कीमत की माँग करने लगे और उन्हें काफ़ी लाभ हुआ।

चित्र 10 *– जूते बनाते मदिगा समुदाय के लोग, उन्नीसवीं शताब्दी, आंध्र प्रदेश।*

मौजूदा आंध्र प्रदेश में मदिगा एक महत्वपूर्ण "अछूत" जाति रही है। वे पशुओं के शवों को साफ करने, चमड़ा तैयार करने और चप्पल-जूतियाँ सींने में माहिर थे।

इसके अलावा दूसरी तरह की नौकरियाँ भी सामने आ रही थीं। उदाहरण के लिए सेना में भी लोगों की ज़रूरत बढ़ गई थी। अछूत माने जाने वाले महार समुदाय के बहुत सारे लोगों को महार रेजीमेंट में नौकरी मिल गई। दलित आंदोलन के नेता बी.आर. अम्बेडकर के पिता एक सैनिक स्कूल में ही पढ़ाते थे।

2019-2020

कक्षा में जगह नहीं

बम्बई प्रेज़ीडेंसी में 1829 में भी अछूतों को सरकारी स्कूलों में घुसने नहीं दिया जाता था। जब उन्होंने इस अधिकार के लिए सख़्ती से आवाज़ उठाई तो उन्हें कक्षा के बाहर बरामदे में बैठकर सबक सुनने की इजाज़त दे दी गई ताकि वे कमरे को "दूषित" न कर सकें जहाँ ऊँची जाति के लड़कों को पढ़ाया जाता था।

चित्र 11 – गुजरात के दुबला समुदाय के लोग बाज़ार के लिए आम ढोकर ले जा रहे हैं।

दुबला मज़दूर सवर्ण ज़मींदारों के पास मज़दूरी करते थे। वे उनके खेत सँभालते थे और ज़मींदार के घर-आँगन में तमाम छोटे-बड़े काम करते थे।

गतिविधि

1. कल्पना कीजिए कि आप स्कूल के बरामदे में बैठकर कक्षा में पढ़ाए जा रहे सबक सुन रहे हैं। तब आपके दिमाग में किस तरह के सवाल पैदा होंगे?
2. कुछ लोगों को लगता था कि अछूतों को शिक्षा से पूरी तरह वंचित रखने के मुकाबले यह स्थिति फिर भी बेहतर थी। क्या आप इस राय से सहमत हैं?

समानता और न्याय की माँग

उन्नीसवीं सदी के दूसरे हिस्से तक गैर-ब्राह्मण जातियों के भीतर से भी लोग जातीय भेदभाव के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने लगे थे। उन्होंने सामाजिक समानता और न्याय की माँग करते हुए आंदोलन शुरू कर दिए थे।

मध्य भारत में सतनामी आंदोलन की शुरुआत घासीदास ने की, जिन्होंने चमड़े का काम करने वालों को संगठित किया और उनकी सामाजिक स्थिति में सुधार के लिए आंदोलन छेड़ दिया। पूर्वी बंगाल में हरिदास ठाकुर के मतुआ पंथ ने चांडाल काश्तकारों के बीच काम किया। हरिदास ने जाति व्यवस्था को सही ठहराने वाले ब्राह्मणवादी ग्रंथों पर सवाल उठाया। जिसे आज केरल कहा जाता है, वहाँ ऐझावा जाति के श्री नारायण गुरु ने अपने लोगों के बीच एकता का आदर्श रखा। उन्होंने जातिगत भिन्नता के आधार पर लोगों के बीच भेदभाव करने का विरोध किया। उनके अनुसार सारी मानवता की एक ही जाति है। उनका एक महत्वपूर्ण कथन था– 'ओरु जाति, ओरु मतम्, ओरु दैवम मनुष्यानु' (मानवता की एक जाति, एक धर्म, एक ईश्वर)।

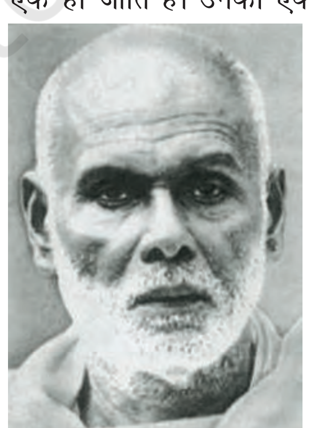

चित्र 12 – श्री नारायण गुरु

इन सभी पंथों की स्थापना ऐसे लोगों ने की थी जो गैर-ब्राह्मण जातियों से थे और उनके बीच ही काम करते थे। उन्होंने उन आदतों और तौर-तरीकों को बदलने का प्रयास किया जो प्रभुत्वशाली जातियों का अपमान करने के लिए उकसाती थीं। उन्होंने अधीनस्थ जातियों में स्वाभिमान का भाव पैदा करने का प्रयास किया।

not to be republished © NCERT

गुलामगीरी

"निम्न जाति" नेताओं में ज्योतिराव फुले सबसे मुखर नेताओं में से थे। 1827 में जन्मे ज्योतिराव फुले ने ईसाई प्रचारकों द्वारा खोले गए स्कूलों में शिक्षा पाई थी। बड़े होने पर उन्होंने जाति आधारित समाज में फैले अन्याय के बारे में अपने विचार व्यक्त किए। उन्होंने ब्राह्मणों के इस दावे पर खुलकर हमला बोला कि आर्य होने के कारण वे औरों से श्रेष्ठ हैं। फुले का तर्क था कि आर्य विदेशी थे, जो उपमहाद्वीप के बाहर से आए थे और उन्होंने इस मिट्टी के असली वारिसों – आर्यों के आने से पहले यहाँ रह रहे मूल निवासियों – को हराकर उन्हें गुलाम बना लिया था। जब आर्यों ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया तो वे पराजित जनता को नीच, निम्न जाति वाला मानने लगे। फुले के अनुसार, "ऊँची" जातियों का उनकी ज़मीन और सत्ता पर कोई अधिकार नहीं है : यह धरती यहाँ के देशी लोगों की, कथित निम्न जाति के लोगों की है।

फुले ने दावा किया कि आर्यों के शासन से पहले यहाँ स्वर्ण युग था। तब योद्धा–किसान ज़मीन जोतते थे और मराठा देहात पर न्यायसंगत और निष्पक्ष तरीके से शासन करते थे। उन्होंने सुझाव दिया कि शूद्रों (श्रमिक जातियाँ) और अतिशूद्रों (अछूत) को जातीय भेदभाव खत्म करने के लिए संगठित होना चाहिए। फुले द्वारा स्थापित किए गए सत्यशोधक समाज नामक संगठन ने जातीय समानता के समर्थन में मुहिम चलाई।

चित्र 13 – *ज्योतिराव फुले।*

स्रोत 3

"मैं यहाँ और तुम वहाँ"

फुले उच्च जाति नेताओं के उपनिवेशवाद–विरोधी राष्ट्रवाद के भी आलोचक थे। उन्होंने लिखा था :

> ब्राह्मणों ने अपने धर्म की वह तलवार छिपा ली है जिसने लोगों की संपन्नता का गला काट दिया है और अब वे देश के महान देशभक्त बने घूम रहे हैं। वे... हमारे शूद्र, मुसलिम और पारसी नौजवानों को... ये सलाह देते हैं... कि अगर हम ऊँच-नीच के बारे में अपना सारा लड़ाई-झगड़ा बंद करके एकजुट नहीं होंगे तो हमारा... देश कभी उन्नति नहीं कर पाएगा...। यह एकता उन्हीं के फायदे में है क्योंकि इसके बाद दोबारा यही स्थिति पैदा हो जाएगी – मैं यहाँ और तुम वहाँ।

ज्योतिराव फुले, काश्तकार की चाबुक (शेतकऱ्याचा आसूड़)

गतिविधि

स्रोत 3 को ध्यान से पढ़ें। "मैं यहाँ और तुम वहाँ" से ज्योतिराव फुले का क्या आशय था?

1873 में फुले ने *गुलामगीरी* (गुलामी) नामक एक किताब लिखी। इससे लगभग दस साल पहले अमेरिकी गृह युद्ध हो चुका था जिसके फलस्वरूप अमरीका में दास प्रथा खत्म कर दी गई थी। फुले ने अपनी पुस्तक उन सभी अमरीकियों को समर्पित की जिन्होंने गुलामों को मुक्ति दिलाने के लिए संघर्ष

© NCERT not to be republished

स्रोत 4

"हम भी इनसान हैं"

1927 में अम्बेडकर ने कहा था :

अब हम सिर्फ ये साबित करने के लिए तालाब पर जाना चाहते हैं कि औरों की तरह हम भी इनसान हैं...। हिंदू समाज का दो मुख्य सिद्धांतों – समानता और जातिवाद की समाप्ति – पर पुनर्गठन किया जाना चाहिए।

किया था। इस तरह उन्होंने भारत की "निम्न" जातियों और अमरीका के काले गुलामों की दुर्दशा को एक-दूसरे से जोड़ दिया।

जैसा कि इस उदाहरण से पता चलता है, फुले ने जाति व्यवस्था की अपनी आलोचना को सभी प्रकार की गैर-बराबरी से जोड़ दिया था। वह "उच्च" जाति महिलाओं की दुर्दशा, मज़दूरों की मुसीबतों और "निम्न" जातियों के अपमानपूर्ण हालात के बारे में गहरे तौर पर चिंतित थे। जाति सुधार का यह आंदोलन बीसवीं सदी में भी पश्चिम भारत में डॉ. बी.आर. अम्बेडकर और दक्षिण में ई.वी. रामास्वामी नायकर जैसे महान दलित नेताओं के नेतृत्व में चलता रहा।

मंदिरों में कौन जा सकता था?

अम्बेडकर एक महार परिवार में पैदा हुए थे। बचपन में उन्होंने इस बात को बहुत नज़दीक से देखा था कि रोज़ाना की ज़िंदगी में जातीय भेदभाव और पूर्वाग्रह क्या होता है। स्कूल में उन्हें कक्षा के बाहर ज़मीन पर बैठना पड़ता था। उन्हें सवर्ण बच्चों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले नलकों से पानी पीने की इजाज़त नहीं थी। स्कूल की पढ़ाई पूरी करने के बाद उन्हें उच्च अध्ययन के लिए अमरीका जाने हेतु फ़ैलोशिप मिल गई थी। 1919 में भारत लौटने पर उन्होंने समकालीन समाज में "उच्च" जातीय सत्ता संरचना पर काफ़ी लिखा।

सन् 1927 में अम्बेडकर ने मंदिर प्रवेश आंदोलन शुरू किया जिसमें महार जाति के लोगों ने बड़ी संख्या में हिस्सा लिया। ब्राह्मण पुजारी इस बात पर बहुत आग-बबूला हुए कि दलित भी मंदिर के जलाशय का पानी इस्तेमाल कर रहे हैं।

1927 से 1935 के बीच अम्बेडकर ने मंदिरों में प्रवेश के लिए ऐसे तीन आंदोलन चलाए। वह पूरे देश को दिखाना चाहते थे कि समाज में जातीय पूर्वाग्रहों की जकड़ कितनी मजबूत है।

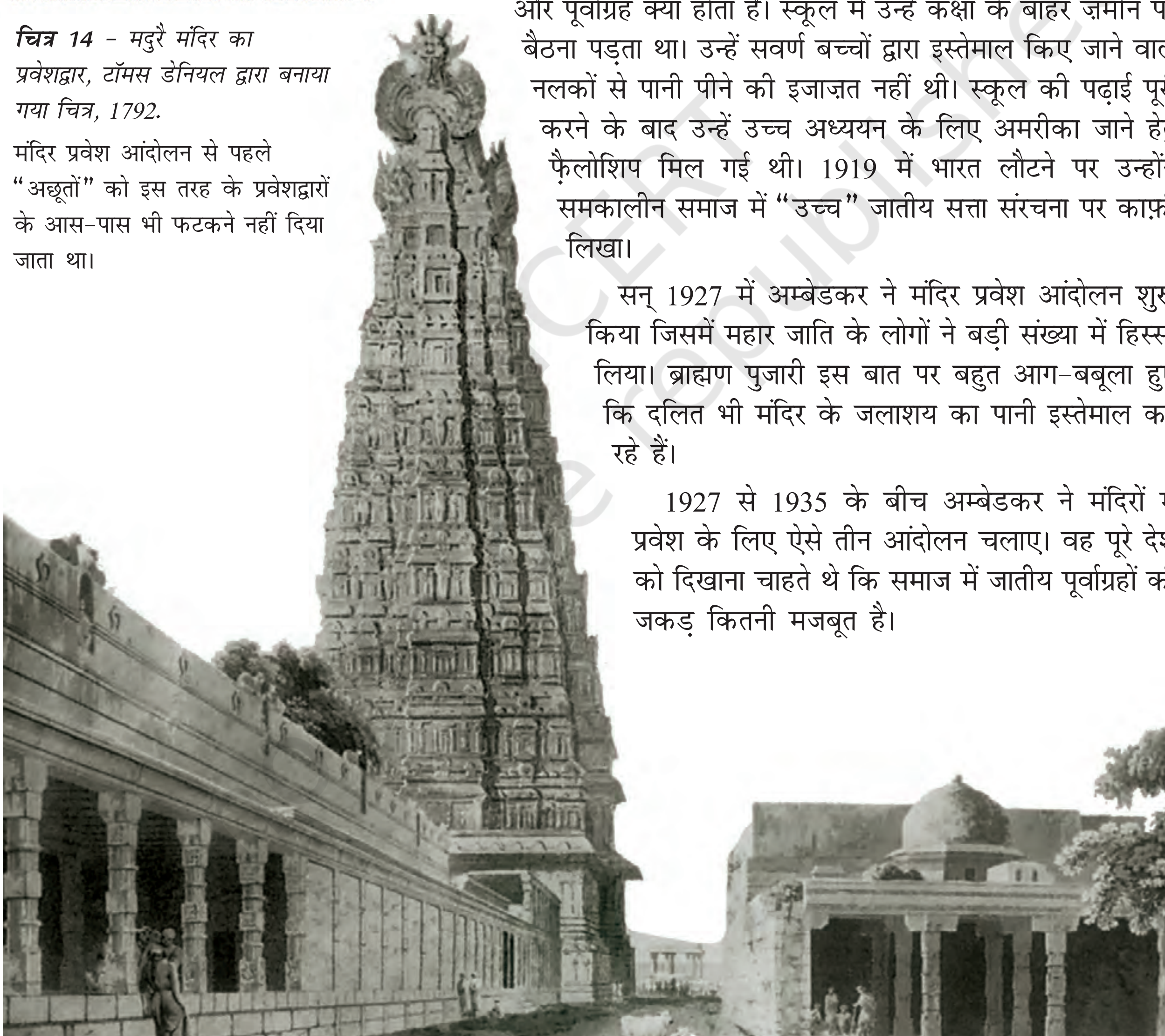

चित्र 14 – मदुरै मंदिर का प्रवेशद्वार, टॉमस डेनियल द्वारा बनाया गया चित्र, 1792.

मंदिर प्रवेश आंदोलन से पहले "अछूतों" को इस तरह के प्रवेशद्वारों के आस-पास भी फटकने नहीं दिया जाता था।

गैर-ब्राह्मण आंदोलन

बीसवीं सदी के आरंभ में गैर-ब्राह्मण आंदोलन शुरू हुआ। यह प्रयास उन गैर-ब्राह्मण जातियों का था जिन्हें शिक्षा, धन और प्रभाव हासिल हो चुका था। उनका तर्क था कि ब्राह्मण तो उत्तर से आए उन आर्य आक्रमणकारियों के वंशज हैं जिन्होंने यहाँ के मूल निवासियों – देशी द्रविड़ नस्लों – को हराकर दक्षिणी भूभाग पर विजय हासिल की थी। उन्होंने सत्ता पर ब्राह्मणवादी दावे को भी चुनौती दी।

पेरियार के नाम से प्रसिद्ध ई.वी. रामास्वामी नायकर एक मध्यवर्गीय परिवार में पले-बढ़े थे। अपने प्रारंभिक जीवन में वे संन्यासी थे और उन्होंने संस्कृत शास्त्रों का गंभीरता से अध्ययन किया था। बाद में वे कांग्रेस के सदस्य बने परंतु जब उन्होंने राष्ट्रवादियों द्वारा आयोजित की गई एक दावत में देखा कि वहाँ बैठने के लिए जातियों के हिसाब से अलग-अलग इंतज़ाम किया हुआ है तो उन्होंने हताश होकर पार्टी छोड़ दी। इस दावत में निम्न जातियों और उच्च जातियों के लिए अलग-अलग बैठने का इंतजाम किया गया था। पेरियार की समझ में आ चुका था कि "अछूतों" को अपने स्वाभिमान के लिए खुद लड़ना होगा। इसी बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने स्वाभिमान आंदोलन शुरू किया। उनका कहना था कि मूल तमिल और द्रविड़ संस्कृति के असली वाहक अछूत ही हैं जिन्हें ब्राह्मणों ने अपने अधीन कर लिया है। उनका मानना था कि सभी धार्मिक नेता और मुखिया सामाजिक विभाजनों और असमानता को ईश्वरप्रदत्त मानते हैं इसलिए सामाजिक समानता के लिए सभी धर्मों से अछूतों को खुद मुक्ति पानी होगी।

पेरियार हिंदू वेद पुराणों के कट्टर आलोचक थे। खासतौर से मनु द्वारा रचित संहिता, *भगवदगीता* और *रामायण* के वे कटु आलोचक थे। उनका कहना था कि ब्राह्मणों ने निचली जातियों पर अपनी सत्ता तथा महिलाओं पर पुरुषों का प्रभुत्व स्थापित करने के लिए इन पुस्तकों का सहारा लिया है।

ये दलीलें लोगों को सहज रास नहीं आईं। निम्न जातीय नेताओं के भाषणों, विचारपूर्ण लेखन और आंदोलनों से उच्च जातीय राष्ट्रवादी नेताओं के बीच कुछ आत्ममंथन और आत्मालोचना की प्रक्रिया शुरू हुई। परंतु, रूढ़िवादी हिंदू समाज ने भी उत्तर में सनातन धर्म सभाओं तथा भारत धर्म महामंडल और बंगाल में ब्राह्मण सभा जैसे संगठनों के ज़रिए इन रुझानों का सख्ती से विरोध किया। इन संगठनों का मकसद यही था कि हिंदू धर्म में जातीय ऊँच-नीच को जो महत्व दिया जाता है उस पर कोई आँच न आए। वे साबित करना चाहते थे कि इस बात को धार्मिक ग्रंथों में भी मान्यता मिली हुई है। औपनिवेशिक काल के बाद भी जाति के सवाल पर बहस और संघर्ष चलते रहे और ये आज भी जारी हैं।

चित्र 15 – ई.वी. रामास्वामी नायकर (पेरियार)।

स्रोत 5

महिलाओं के बारे में पेरियार

पेरियार ने लिखा था :

तारा मुकुर्तम जैसे शब्दों के आगमन के बाद हमारी महिलाएँ अपने पतियों के हाथों की कठपुतली बन गई थीं...। हमें ऐसे पिताओं के संरक्षण में जीना पड़ा जो अपनी बेटियों को सलाह देते हैं... कि उन्हें पतियों को उपहार में दिया जा चुका है और अब वे अपने पति के घर का हिस्सा हैं। यह... संस्कृत के साथ हमारी घनिष्ठता का परिणाम है।

पेरियार द्वारा रचित
पेरियार चिंतानाइकल *से उद्धृत*

गतिविधि

आज भी जाति इतना विवादास्पद मुद्दा क्यों बनी हुई है? औपनिवेशिक काल में जाति के विरुद्ध सबसे महत्वपूर्ण आंदोलन कौन सा था?

चित्र 16 – केशब चंद्र सेन ब्रह्मो समाज के मुख्य नेताओं में से एक थे।

सुधारों के लिए संगठित होना

ब्रह्मो समाज

ब्रह्मो समाज की स्थापना 1830 में की गई थी। यह संस्था सभी प्रकार की मूर्ति पूजा और बलि के विरुद्ध थी और इसके अनुयायी उपनिषदों में विश्वास रखते थे। इसके सदस्यों को अन्य धार्मिक प्रथाओं या परंपराओं की आलोचना करने का अधिकार नहीं था। ब्रह्मो समाज ने विभिन्न धर्मों के आदर्शों – खास तौर से हिंदुत्व और ईसाई धर्म – के विचारों की आलोचनात्मक व्याख्या करते हुए उनके नकारात्मक और सकारात्मक पहलुओं पर प्रकाश डाला।

चित्र 17 – हेनरी डेरोज़ियो।

डेरोज़ियो एवं यंग बंगाल

1820 के दशक में हेनरी लुई विवियन डेरोज़ियो हिंदू कॉलेज, कलकत्ता में अध्यापक थे। उन्होंने अपने विद्यार्थियों को आमूल परिवर्तनकारी विचारों से अवगत कराया और उन्हें तमाम तरह की सत्ता पर सवाल खड़ा करने के लिए प्रोत्साहित किया। उनके द्वारा शुरू की गई यंग बंगाल मूवमेंट में उनके विद्यार्थियों ने परंपराओं और रीति-रिवाज़ों पर उँगली उठाई, महिलाओं के लिए शिक्षा की माँग की और सोच व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए अभियान चलाया।

चित्र 18 – स्वामी विवेकानंद।

रामकृष्ण मिशन और विवेकानंद

रामकृष्ण मिशन का नाम स्वामी विवेकानंद के गुरु रामकृष्ण परमहंस के नाम पर रखा गया था। यह मिशन समाज सेवा और निस्वार्थ श्रम के ज़रिए मुक्ति के लक्ष्य पर ज़ोर देता था

स्वामी विवेकानंद (1863-1902) जिनका मूल नाम नरेंद्रनाथ दत्त था, उन्होंने श्री रामकृष्ण की सरल शिक्षाओं को अपने प्रतिभाशाली संतुलित आधुनिक विचारधारा से जोड़ कर संपूर्ण विश्व में प्रसारित किया। 1893 में शिकागो में विश्व धर्म संसद में उन्हें सुनने के बाद न्यूयॉर्क हेराल्ड ने विवरण दिया कि, "ऐसे विद्वान राष्ट्र में धर्म प्रचारकों को भेजना कितना मूर्खतापूर्ण है"। वास्तव में, स्वामी विवेकानंद आधुनिक समय के पहले भारतीय थे जिन्होंने विश्वव्यापी स्तर पर वेदांत दर्शन के आध्यात्मिक गौरव को पुनर्स्थापित किया, लेकिन उनका उद्देश्य केवल धर्म की व्याख्या करना नहीं था। अपने देशवासियों की निर्धनता और दुर्दशा से उन्हें अतिशय दुःख हुआ। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि कोई भी सुधार तभी सफल हो सकता है जब जनसमूह की दशा उन्नत हो। अतः भारत के लोगों को उन्होंने 'रसोईघर के धर्म' की संकीर्ण चारदीवारी से बाहर निकलने और राष्ट्र की सेवा में एक जुट होने का आह्वान किया। इस आह्वान द्वारा भारतीय राष्ट्रवाद की प्रारंभिक अवस्था में उन्होंने असाधारण योगदान दिया। किंतु राष्ट्रवाद के बारे में उनका भाव संकीर्ण नहीं था। उन्हें यह विश्वास था कि मानवजाति को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है उन पर तभी काबू पाया जा सकता है जब विश्व के सभी राष्ट्र एक समान धरातल पर एक साथ आएँ। अतः एक सामान्य आध्यात्मिक विरासत के आधार पर उन्होंने युवाओं को एक होने का उपदेश दिया। इस उद्बोधन में वह वास्तव में 'नई विचारधारा के प्रतीक और भविष्य के लिए एक महान शक्ति का स्त्रोत' बन गए।

प्रार्थना समाज

1867 में बम्बई में स्थापित प्रार्थना समाज ने जातीय बंधनों को खत्म करने और बाल विवाह के उन्मूलन के लिए प्रयास किया। प्रार्थना समाज ने महिलाओं की शिक्षा को प्रोत्साहित किया और विधवा विवाह पर लगी पाबंदी के खिलाफ आवाज़ उठाई। उसकी धार्मिक बैठकों में हिंदू, बौद्ध और ईसाई ग्रंथों पर विचार-विमर्श किया जाता था।

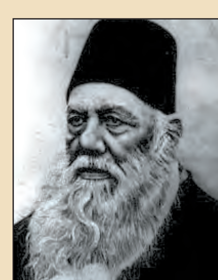

चित्र 19 – सैय्यद अहमद खाँ।

वेद समाज

मद्रास (चेन्नई) में 1864 में वेद समाज की स्थापना हुई। वेद समाज ब्रह्मो समाज से प्रेरित था। वेद समाज ने जातीय भेदभाव को समाप्त करने और विधवा विवाह तथा महिला शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए काम किया। इसके सदस्य एक ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते थे। उन्होंने रूढ़िवादी हिंदुत्व के अंधविश्वासों और अनुष्ठानों की सख्त निंदा की।

अलीगढ़ आंदोलन

सैय्यद अहमद खाँ द्वारा 1875 में अलीगढ़ में खोले गए मोहम्मदन एंग्लो-ओरिएंटल कॉलेज को ही बाद में अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय के नाम से जाना गया। यहाँ मुसलमानों को पश्चिमी विज्ञान के साथ-साथ विभिन्न विषयों की आधुनिक शिक्षा दी जाती थी। अलीगढ़ आंदोलन का शैक्षणिक सुधारों के क्षेत्र में गहरा प्रभाव रहा है।

© NCERT not to be republished

सिंह सभा आंदोलन

सिखों के सुधारवादी संगठन के रूप में सिंह सभाओं की स्थापना 1873 में अमृतसर से शुरू हुई थी। बाद में 1879 में लाहौर में भी सिंह सभा का गठन किया गया। इन सभाओं ने सिख धर्म को अंधविश्वासों, जातीय भेदभाव और ऐसे आचरण जिसे वे गैर-सिख समझती थीं, से मुक्त कराने का प्रयास किया। उन्होंने सिखों को शिक्षा के लिए प्रोत्साहित किया जिसमें अकसर आधुनिक ज्ञान के साथ-साथ सिख धर्म के सिद्धांतों को भी पढ़ाया जाता था।

चित्र 20 – खालसा कॉलेज, अमृतसर। 1892 में सिख सभा आंदोलन के नेताओं द्वारा स्थापित किया गया।

अन्यत्र

काले गुलाम और गोरे बागान मालिक

आप यह जान चुके हैं कि ज्योतिराव फुले ने अपनी पुस्तक *गुलामगीरी* में जातीय उत्पीड़न और अमरीका में प्रचलित दास प्रथा के बीच किस तरह संबंध स्थापित किया था। क्या आप जानते हैं कि दासता की यह प्रथा क्या थी?

सत्रहवीं शताब्दी में जब यूरोपीय खोजी यात्री और व्यापारी पहली बार अफ़्रीका पहुँचे तो उन्होंने गुलामों का व्यापार शुरू कर दिया। वे अफ़्रीका के काले लोगों को पकड़कर अमरीका ले आते थे और वहाँ के गोरे बागान मालिकों को बेच देते थे। उन्हें कपास और अन्य बागानों में काम करना पड़ता था जो ज़्यादातर दक्षिणी संयुक्त राज्य अमरीका में स्थित थे। बागानों में ये गुलाम पौ फटने से लेकर देर रात तक काम करते थे। "सही ढंग से काम न करने" के नाम पर मालिक उन्हें सजा देते थे, कोड़ों से पीटते थे और तरह-तरह की यातनाएँ देते थे।

चित्र 21 – गुलामों की बिक्री, दक्षिणी केरोलिना, अमरीका, 1856

यहाँ संभावित खरीददार नीलामी में अफ़्रीका से लाए गए गुलामों की जाँच-पड़ताल कर रहे हैं।

श्वेत और अश्वेत, सभी तरह के बहुत सारे लोगों ने संगठित रूप से इस दास प्रथा का विरोध किया। इसी क्रम में उन्होंने 1776 की अमेरिकी क्रांति की भावनाओं का हवाला देते हुए आह्वान किया : "अमरीकावासियो, अपने घोषणापत्र को देखो! क्या तुम्हें अपनी भाषा भी समझ में नहीं आती?" गेटिसबर्ग में दिए गए अपने अत्यंत भावप्रवण भाषण में अब्राहम लिंकन ने कहा था कि जिन्होंने दास प्रथा के खिलाफ संघर्ष किया है वे लोकतंत्र के पथप्रदर्शक हैं। उन्होंने लोगों से आह्वान किया कि वे नस्ली समानता के लिए कदम उठाएँ ताकि "धरती से 'जनता की, जनता के द्वारा, जनता के लिए सरकार' का नाश न हो।"

2019-2020

आइए कल्पना करें

मान लीजिए कि आप रुकैया हुसैन द्वारा स्थापित किए गए एक स्कूल में पढ़ाते हैं। आपकी कक्षा में 20 लड़कियाँ हैं। अपनी कल्पना के आधार पर इस स्कूल में किसी एक दिन हुई चर्चाओं का एक विवरण लिखिए।

फिर से याद करें

1. निम्नलिखित लोगों ने किन सामाजिक विचारों का समर्थन और प्रसार किया :
   राममोहन रॉय
   दयानंद सरस्वती
   वीरेशलिंगम पंतुलु
   ज्योतिराव फुले
   पंडिता रमाबाई
   पेरियार
   मुमताज़ अली
   ईश्वरचंद्र विद्यासागर
2. निम्नलिखित में से सही या गलत बताएँ :
   (क) जब अंग्रेज़ों ने बंगाल पर क़ब्ज़ा किया तो उन्होंने विवाह, गोद लेने, संपत्ति उत्तराधिकार आदि के बारे में नए कानून बना दिए।
   (ख) समाज सुधारकों को सामाजिक तौर-तरीकों में सुधार के लिए प्राचीन ग्रंथों से दूर रहना पड़ता था।
   (ग) सुधारकों को देश के सभी लोगों का पूरा समर्थन मिलता था।
   (घ) बाल विवाह निषेध अधिनियम 1829 में पारित किया गया था।

आइए विचार करें

3. प्राचीन ग्रंथों के ज्ञान से सुधारकों को नए कानून बनवाने में किस तरह मदद मिली?
4. लड़कियों को स्कूल न भेजने के पीछे लोगों के पास कौन-कौन से कारण होते थे?
5. ईसाई प्रचारकों की बहुत सारे लोग क्यों आलोचना करते थे? क्या कुछ लोगों ने उनका समर्थन भी किया होगा? यदि हाँ तो किस कारण?
6. अंग्रेज़ों के काल में ऐसे लोगों के लिए कौन से नए अवसर पैदा हुए जो "निम्न" मानी जाने वाली जातियों से संबंधित थे?
7. ज्योतिराव और अन्य सुधारकों ने समाज में जातीय असमानताओं की आलोचनाओं को किस तरह सही ठहराया?
8. फुले ने अपनी पुस्तक *गुलामगीरी* को गुलामों की आजादी के लिए चल रहे अमेरिकी आंदोलन को समर्पित क्यों किया?
9. मंदिर प्रवेश आंदोलन के ज़रिए अम्बेडकर क्या हासिल करना चाहते थे?
10. ज्योतिराव फुले और रामास्वामी नायकर राष्ट्रीय आंदोलन की आलोचना क्यों करते थे? क्या उनकी आलोचना से राष्ट्रीय संघर्ष में किसी तरह की मदद मिली?

© NCERT not to be republished

9 राष्ट्रीय आंदोलन का संघटन : 1870 के दशक से 1947 तक

0865CH09

चित्र 1 – भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान प्रदर्शनकारियों पर आँसू गैस के गोले छोड़ती पुलिस।

पिछले अध्यायों में हम निम्नलिखित का अध्ययन कर चुके हैं :

- भारतीय भूक्षेत्र पर अंग्रेज़ों का कब्ज़ा और रियासतों का अधिग्रहण
- नये कानूनों और प्रशासकीय संस्थाओं की शुरुआत
- किसानों और आदिवासियों की ज़िंदगी में बदलाव
- उन्नीसवीं सदी में आए शैक्षणिक बदलाव
- महिलाओं की स्थिति से संबंधित वाद-विवाद
- जाति व्यवस्था को चुनौतियाँ
- सामाजिक एवं धार्मिक सुधार
- 1857 का विद्रोह और उसके बाद की स्थिति
- हस्तकलाओं का पतन और उद्योगों का विकास

इन मुद्दों के बारे में आपने जो कुछ पढ़ा, उसके आधार पर क्या आपको ऐसा लगता है कि भारत के लोग ब्रिटिश शासन से असंतुष्ट थे? यदि हाँ तो विभिन्न समूह और वर्ग क्यों असंतुष्ट थे?

राष्ट्रवाद का उदय

उपरोक्त बदलावों ने लोगों को एक अहम सवाल के बारे में सोचने के लिए विवश कर दिया : यह देश क्या है और किसके लिए है? इसका जवाब धीरे-धीरे इस रूप में सामने आया : भारत का मतलब है यहाँ की जनता – भारत, यहाँ रहने वाले किसी भी वर्ग, रंग, जाति, पंथ, भाषा या जेंडर वाले तमाम लोगों का घर है। यह देश और इसके सारे संसाधन और इसकी सारी व्यवस्था उन सभी के लिए है। इस जवाब के साथ ये अहसास भी सामने आया कि अंग्रेज़ भारत के संसाधनों व यहाँ के लोगों की ज़िंदगी पर कब्ज़ा जमाए हुए हैं और जब तक यह नियंत्रण खत्म नहीं होता, भारत यहाँ के लोगों का, भारतीयों का नहीं हो सकता।

यह चेतना 1850 के बाद बने राजनीतिक संगठनों में साफ दिखाई देने लगी थी। 1870 और 1880 के दशकों में बने राजनीतिक संगठनों में यह चेतना और गहरी हो चुकी थी। इनमें से ज्यादतर संगठनों की बागडोर वकील आदि अंग्रेज़ी शिक्षित पेशेवरों के हाथों में थी। पूना सार्वजनिक सभा, इंडियन एसोसिएशन, मद्रास महाजन सभा, बॉम्बे रेज़ीडेंसी एसोसिएशन और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस आदि इस तरह के प्रमुख संगठन थे।

"पूना सार्वजनिक सभा" नाम को गौर से देखिए। "सार्वजनिक" का मतलब होता है "सब लोगों का या सबके लिए" (सर्व=सभी, जनिक=लोगों का)। हालांकि इनमें से बहुत सारे संगठन देश के खास हिस्सों में काम कर रहे थे लेकिन वे अपने लक्ष्य को भारत के सभी लोगों का लक्ष्य बताते थे। उनके मुताबिक, उनके लक्ष्य किसी खास इलाके, समुदाय या वर्ग के लक्ष्य नहीं थे। वे इस सोच के साथ काम कर रहे थे कि लोग **सम्प्रभु** हों। सम्प्रभुता एक आधुनिक विचार और राष्ट्रवाद का बुनियादी तत्व होता है। ये संगठन इस धारणा से चलते थे कि भारतीय जनता को अपने मामलों के बारे में फैसले लेने की आज़ादी होनी चाहिए।

सम्प्रभु – बाहरी हस्तक्षेप के बिना स्वतंत्र रूप से कदम उठाने की क्षमता।

1870 और 1880 के दशकों में ब्रिटिश शासन के प्रति असंतोष और ज़्यादा गहरा हुआ। 1878 में आर्म्स एक्ट पारित किया गया जिसके जरिए भारतीयों द्वारा अपने पास हथियार रखने का अधिकार छीन लिया गया। उसी साल वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट भी पारित किया गया जिससे सरकार की आलोचना करने वालों को चुप कराया जा सके। इस कानून में प्रावधान था कि अगर किसी अखबार में कोई 'आपत्तिजनक' चीज छपती है तो सरकार उसकी प्रिंटिंग प्रेस सहित सारी सम्पत्ति को जब्त कर सकती है। 1883 में सरकार ने इल्बर्ट बिल लागू करने का प्रयास किया। इसको लेकर काफी हंगामा हुआ। इस विधेयक में प्रावधान किया गया था कि भारतीय न्यायाधीश भी ब्रिटिश या यूरोपीय व्यक्तियों पर मुकदमे चला सकते हैं ताकि भारत में काम करने वाले अंग्रेज़ और भारतीय न्यायाधीशों के बीच समानता स्थापित की जा सके। जब अंग्रेज़ों के विरोध की वजह से सरकार ने यह विधेयक वापस ले लिया तो भारतीयों ने इस बात का काफी विरोध किया। इस घटना से भारत में अंग्रेज़ों के असली रवैये का पता चलता था।

2019-2020

पढ़े-लिखे भारतीयों के एक अखिल भारतीय संगठन की ज़रूरत 1880 से ही महसूस की जा रही थी परन्तु इल्बर्ट विधेयक ने इस चाह को और गहरा कर दिया था। 1885 में देश भर के 72 प्रतिनिधियों ने बम्बई में सभा करके भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का फैसला लिया। संगठन के प्रारम्भिक नेता – दादा भाई नौरोजी, फिरोज़शाह मेहता, बदरूद्दीन तैयब जी, डब्ल्यू. सी. बैनर्जी, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, रोमेशचन्द्र दत्त, एस. सुब्रमण्यम अय्यर एवं अन्य – प्रायः बम्बई और कलकत्ता के ही थे। नौरोजी व्यवसायी और **प्रचारक** थे। वे लंदन में रहते थे और कुछ समय के लिए ब्रिटिश संसद के सदस्य भी रहे। उन्होंने युवा राष्ट्रवादियों का मार्गदर्शन किया। सेवानिवृत्त ब्रिटिश अफसर ए.ओ.ह्यूम ने भी विभिन्न क्षेत्रों के भारतीयों को निकट लाने में अहम भूमिका अदा की।

प्रचारक – ऐसा व्यक्ति जो सूचनाओं के प्रसार, रिपोर्ट्स, बैठकों में भाषण आदि के ज़रिए किसी खास विचार का प्रचार-प्रसार करता है।

स्रोत 1

कांग्रेस किसके पक्ष में बोलने का प्रयास कर रही थी?

जनवरी 1886 में *दि इंडियन मिरर* नामक अखबार ने लिखा:

बम्बई में आयोजित प्रथम राष्ट्रीय कांग्रेस हमारे देश की भावी संसद का केंद्रक है और यह हमारे देशवासियों के लिए अकल्पनीय रूप से लाभकारी परिणामों को जन्म देगी।

बदरूद्दीन तैयबजी ने 1887 में अध्यक्ष की हैसियत से कांग्रेस को संबोधित करते हुए कहा था :

यह कांग्रेस भारत के किसी एक वर्ग या समुदाय के प्रतिनिधियों से मिलकर नहीं बनी है बल्कि यह भारत के सभी समुदायों की संस्था है।

चित्र 2 – दादाभाई नौरोजी।
नौरोजी की पुस्तक *पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया* में ब्रिटिश शासन के आर्थिक परिणामों की बहुत तीखी आलोचना की गई थी।

उभरता हुआ राष्ट्र

अकसर कहा जाता है कि अपने पहले बीस सालों में कांग्रेस अपने उद्देश्य और तरीकों के लिहाज़ से "मध्यमार्गी" पार्टी थी। इस दौरान कांग्रेस ने सरकार और शासन में भारतीयों को और ज़्यादा जगह दिए जाने के लिए आवाज़ उठाई। कांग्रेस का आग्रह था कि विधान परिषदों में भारतीयों को ज़्यादा जगह दी जाए, परिषदों को ज़्यादा अधिकार दिए जाएँ और जिन प्रांतों में परिषदें नहीं हैं वहाँ उनका गठन किया जाए। कांग्रेस चाहती थी कि सरकार में भारतीयों को भी ऊँचे पद दिए जाएँ। इस काम के लिए उसने माँग की कि सिविल सेवा के लिए लंदन के साथ-साथ भारत में भी परीक्षा आयोजित की जाए।

गतिविधि

शुरुआत से ही कांग्रेस *सभी* भारतीय *लोगों* के हक में और उनकी ओर से बोलने का संकल्प व्यक्त कर रही थी। कांग्रेस ने ऐसा क्यों किया?

2019-2020

निरस्त करना – किसी कानून को समाप्त करना, किसी कानून की वैधता अधिकृत रूप से समाप्त कर देना।

शासन व्यवस्था के भारतीयकरण की माँग नस्लवाद के खिलाफ चल रहे आंदोलन का एक हिस्सा थी क्योंकि तब तक ज़्यादातर महत्वपूर्ण नौकरियों पर गोरे अफसरों का ही कब्ज़ा था। अंग्रेज़ आमतौर पर यह मानकर चलते थे कि भारतीयों को जिम्मेदारी भरे पद नहीं दिए जा सकते। क्योंकि अंग्रेज़ अफसर अपने भारी-भरकम वेतन का एक बड़ा हिस्सा ब्रिटेन भेज देते थे इसलिए लोगों को उम्मीद थी कि भारतीयकरण से यहाँ की धन-सम्पत्ति भी कुछ हद तक भारत में रुकने लगेगी। भारतीयों की माँग थी कि न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग किया जाए, आर्म्स एक्ट को **निरस्त** किया जाए और अभिव्यक्ति व बोलने की स्वतंत्रता दी जाए।

शुरुआती सालों में कांग्रेस ने कई आर्थिक मुद्दे भी उठाए। उसका कहना था कि भारत में ब्रिटिश शासन की वजह से ही गरीबी और अकाल पड़ रहे हैं। बढ़ते लगान के कारण काश्तकार और ज़मींदार विपन्न हो गए थे और अनाजों के भारी निर्यात की वजह से खाद्य पदार्थों का अभाव पैदा हो गया था। कांग्रेस की माँग थी कि लगान कम किया जाए, फौजी खर्चों में कटौती की जाए और सिंचाई के लिए ज़्यादा अनुदान दिए जाएँ। उसने नमक कर, विदेशों में भारतीय मज़दूरों के साथ होने वाले बर्ताव तथा भारतीयों के कामों में दखलअंदाजी करने वाले वन प्रशासन की वजह से वनवासियों की बढ़ती मुसीबतों के बारे में बहुत सारे प्रस्ताव पारित किए। इससे पता चलता है कि पढ़े-लिखे सम्पन्न वर्ग की संस्था होते हुए भी कांग्रेस केवल पेशेवर समूहों, ज़मींदारों और उद्योगपतियों के हक में ही नहीं बोल रही थी।

स्रोत 2

सोने की चाह में

डिनशॉ वाचा नामक एक मध्यमार्गी नेता ने 1887 में नौरोजी को संबोधित करते हुए लिखा था :

> आजकल फिरोज़शाह अपने निजी कामों में बहुत ज़्यादा व्यस्त हैं...। वे लोग पहले ही काफी अमीर हैं...। तेलंग साहब भी व्यस्त रहते हैं। मुझे समझ में नहीं आता अगर सभी लोग सोने की चाह में इतने व्यस्त रहेंगे तो देश की प्रगति कैसे हो सकती है?

मध्यमार्गी नेता जनता को ब्रिटिश शासन के अन्यायपूर्ण चरित्र से अवगत कराना चाहते थे। उन्होंने अखबार निकाले, लेख लिखे और यह साबित करने का प्रयास किया कि ब्रिटिश शासन देश को आर्थिक तबाही की ओर ले जा रहा है। उन्होंने अपने भाषणों में ब्रिटिश शासन की निंदा की और जनमत निर्माण के लिए देश के विभिन्न भागों में अपने प्रतिनिधि भेजे। लेकिन मध्यमार्गियों को ये भी लगता था कि अंग्रेज़ स्वतंत्रता व न्याय के आदर्शों का सम्मान करते हैं इसलिए वे भारतीयों की न्यायसंगत माँगों को स्वीकार कर लेंगे। लिहाजा, कांग्रेस का मानना था कि सरकार को भारतीयों की भावना से अवगत कराया जाना चाहिए।

गतिविधि

उपरोक्त टिप्पणी के आधार पर शुरुआती कांग्रेस के बारे में कौन सी समस्याओं का पता चलता है?

"स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है"

1890 के दशक तक बहुत सारे लोग कांग्रेस के राजनीतिक तौर-तरीकों पर सवाल खड़ा करने लगे थे। बंगाल, पंजाब और महाराष्ट्र में बिपिनचंद्र पाल, बाल गंगाधार तिलक और लाला लाजपत राय जैसे नेता ज़्यादा आमूल परिवर्तनवादी उद्देश्य और पद्धतियों के अनुरूप काम करने लगे थे। उन्होंने "निवेदन की राजनीति" के लिए नरमपंथियों की आलोचना की और आत्मनिर्भरता तथा रचनात्मक कामों के महत्त्व पर जोर दिया। उनका कहना था कि लोगों को सरकार के "नेक" इरादों पर नहीं बल्कि अपनी ताकत पर भरोसा करना चाहिए : लोगों को स्वराज के लिए लड़ना चाहिए। तिलक ने नारा दिया – "स्वतंत्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा!"

2019-2020

© NCERT not to be republished

1905 में वायसराय कर्ज़न ने बंगाल का विभाजन कर दिया। उस वक्त बंगाल ब्रिटिश भारत का सबसे बड़ा प्रांत था। बिहार और उड़ीसा के कुछ भाग भी उस समय बंगाल का हिस्सा थे। अंग्रेज़ों का कहना था कि प्रशासकीय सुविधा को ध्यान में रखते हुए बंगाल का बँटवारा करना ज़रूरी था। परन्तु इस "प्रशासकीय सुविधा" का मतलब क्या था? इससे किसको "सुविधा" मिलने वाली थी? ज़ाहिर है इसका ताल्लुक अंग्रेज़ अफसरों और व्यापारियों के फायदे से था। लेकिन सरकार ने गैर–बंगाली इलाकों को अलग करने की बजाय उसके पूर्वी भागों को अलग करके असम में मिला दिया। पूर्वी बंगाल को अलग करने के पीछे अंग्रेज़ों का मुख्य उद्देश्य ये रहा होगा कि बंगाली राजनेताओं के प्रभाव पर अंकुश लगाया जाए और बंगाली जनता को बाँट दिया जाए।

चित्र 3 *– बाल गंगाधर तिलक।*

मेज़ पर रखे अखबार का नाम देखिए। तिलक के संपादन में निकलने वाला मराठी अखबार – *केसरी* – ब्रिटिश शासन का कट्टर आलोचक बन गया था।

बंगाल के विभाजन से देश भर में गुस्से की लहर फैल गई। मध्यमार्गी और आमूल परिवर्तनवादी, कांग्रेस के सभी धड़ों ने इसका विरोध किया। विशाल जनसभाओं का आयोजन किया गया और जुलूस निकाले गए। जनप्रतिरोध के नए–नए रास्ते ढूँढ़े गए। इससे जो संघर्ष उपजा उसे स्वदेशी आंदोलन के नाम से जाना जाता है। यह आंदोलन बंगाल में सबसे ताकतवर था परन्तु अन्य इलाकों में भी इसकी भारी अनुगूँज सुनाई दी। उदाहरण के

चित्र 4 *– स्वदेशी आंदोलन के दौरान हज़ारों लोग जुलूसों में शामिल होने लगे।*

चित्र 5 – लाला लाजपत राय।

लाजपत राय पंजाब के जाने-माने राष्ट्रवादियों में से थे। वह याचिका और निवेदनों की राजनीति का विरोध करने वाले आमूल परिवर्तनवादी के एक प्रमुख नेता थे। वह आर्यसमाज के भी सक्रिय सदस्य थे।

लिए, आंध्र के डेल्टा इलाकों में इसे वंदेमातरम् आंदोलन के नाम से जाना जाता था।

स्वदेशी आंदोलन ने ब्रिटिश शासन का विरोध किया और स्वयं सहायता, स्वदेशी उद्यमों, राष्ट्रीय शिक्षा और भारतीय भाषा के उपयोग को बढ़ावा दिया। स्वराज के लिए आमूल परिवर्तनवादी ने जनता को लामबंद करने और ब्रिटिश संस्थानों व वस्तुओं के बहिष्कार पर ज़ोर दिया। कुछ लोग ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के लिए **"क्रांतिकारी हिंसा"** के समर्थक थे।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में कई दूसरी महत्वपूर्ण घटनाएँ भी घटीं। 1906 में मुसलमान ज़मींदारों और नवाबों के एक समूह ने ढाका में ऑल इंडिया मुसलिम लीग का गठन किया। लीग ने बंगाल विभाजन का समर्थन किया। लीग की माँग थी कि मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचिका की व्यवस्था की जाए। 1909 में सरकार ने यह माँग मान ली। अब **परिषदों** में कुछ सीटें मुसलमान उम्मीदवारों के लिए आरक्षित कर दी गईं जिन्हें मुसलिम मतदाताओं द्वारा ही चुनकर भेजा जाना था। इससे राजनेताओं में अपने धार्मिक समुदाय के लोगों को अपना राजनीतिक समर्थक बनाने का लालच पैदा हो गया।

1907 में कांग्रेस टूट गई। मध्यमार्गी धड़ा बहिष्कार की राजनीति के विरुद्ध था। इन लोगों का मानना था कि इसके लिए बल प्रयोग की आवश्यकता होती है जो कि सही नहीं है। संगठन टूटने के बाद कांग्रेस पर मध्यमार्गी का दबदबा बन गया जबकि तिलक के अनुयायी बाहर से काम करने लगे। दिसंबर 1915 में दोनों खेमों में एक बार फिर एकता स्थापित हुई। अगले साल कांग्रेस और मुसलिम लीग के बीच ऐतिहासिक लखनऊ समझौते पर दस्तखत हुए और दोनों संगठनों ने देश में प्रातिनिधिक सरकार के गठन के लिए मिलकर काम करने का फैसला लिया।

क्रांतिकारी हिंसा – समाज में आमूल बदलाव लाने के लिए हिंसा का उपयोग करना।

परिषद – प्रशासकीय, सलाहकारी या प्रातिनिधिक दायित्वों को निभाने वाली मनोनीत या निर्वाचित संस्था।

जनराष्ट्रवाद का उदय

1919 के बाद अंग्रेज़ों के खिलाफ चल रहा संघर्ष धीरे-धीरे एक जनांदोलन में तब्दील होने लगा। किसान, आदिवासी, विद्यार्थी और महिलाएँ बड़ी संख्या में इस आंदोलन से जुड़ते गए। कई बार औद्योगिक मज़दूरों ने भी आंदोलन में योगदान दिया। बीस के दशक से कुछ खास व्यावसायिक समूह भी कांग्रेस को सक्रिय समर्थन देने लगे थे। ऐसा क्यों हुआ?

पहले विश्व युद्ध ने भारत की आर्थिक और राजनीतिक स्थिति बदल दी थी। इस युद्ध की वजह से ब्रिटिश भारत सरकार के रक्षा व्यय में भारी इज़ाफा हुआ था। इस खर्चे को निकालने के लिए सरकार ने निजी आय और व्यावसायिक मुनाफे पर कर बढ़ा दिया था। सैनिक व्यय में इज़ाफे तथा युद्धक आपूर्ति की वजह से ज़रूरी कीमतों की चीज़ों में भारी उछाल आया और आम लोगों की ज़िंदगी मुश्किल होती गई। दूसरी ओर व्यावसायिक समूह युद्ध से बेहिसाब मुनाफा कमा रहे थे। जैसा कि आप अध्याय 7 में देख चुके हैं, इस युद्ध में औद्योगिक वस्तुओं (जूट के बोरे, कपड़े, पटरियाँ) की माँग बढ़ा

गतिविधि

पता लगाएँ कि पहला विश्व युद्ध किन देशों ने लड़ा था?

© NCERT not to be republished

दी और अन्य देशों से भारत आने वाले आयात में कमी ला दी थी। इस तरह, युद्ध के दौरान भारतीय उद्योगों का विस्तार हुआ और भारतीय व्यावसायिक समूह विकास के लिए और अधिक अवसरों की माँग करने लगे।

युद्ध ने अंग्रेज़ों को अपनी सेना बढ़ाने के लिए विवश किया। एक विदेशी युद्ध की खातिर गाँवों में सिपाहियों की भर्ती के लिए दवाब डाला जाने लगा। बहुत सारे सिपाहियों को दूसरे देशों में युद्ध के मोर्चों पर भेज दिया गया। इनमें से बहुत सारे सिपाही युद्ध के बाद यह समझदारी लेकर लौटे कि साम्राज्यवादी शक्तियाँ एशिया और अफ्रीका के लोगों का किस तरह शोषण कर रही हैं। फलस्वरूप ये लोग भी भारत में औपनिवेशिक शासन का विरोध करने लगे।

इसके अलावा, 1917 में रूस में क्रांति हुई। इस घटना के चलते किसानों और मज़दूरों के संघर्षों का समाचार तथा समाजवादी विचार बड़े पैमाने पर फैलने लगे थे जिससे भारतीय राष्ट्रवादियों को नई प्रेरणा मिलने लगी।

महात्मा गांधी का आगमन

इन्हीं हालात में महात्मा गांधी एक जननेता के रूप में सामने आए। गांधीजी 46 वर्ष की उम्र में 1915 में दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे थे। वे वहाँ पर नस्लभेदी पाबंदियों के खिलाफ अहिंसक आंदोलन चला रहे थे और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उनकी अच्छी मान्यता थी और लोग उनका आदर करते थे। दक्षिण अफ्रीकी आंदोलनों की वजह से उन्हें हिंदू, मुसलमान, पारसी और ईसाई; गुजराती, तमिल और उत्तर भारतीय; उच्च वर्गीय व्यापारी, वकील और मज़दूर, सब तरह के भारतीयों से मिलने–जुलने का मौका मिल चुका था।

महात्मा गांधी ने पहले साल पूरे भारत का दौरा किया। इस दौरान वे यहाँ के लोगों, उनकी ज़रूरतों और हालात को समझने में लगे रहे। उनके शुरुआती प्रयास चंपारण, खेड़ा और अहमदाबाद के स्थानीय आंदोलनों के रूप में

चित्र 6 *– नटाल कांग्रेस के संस्थापक, डरबन, दक्षिण अफ्रीका, 1895*

1895 में अन्य भारतीयों के साथ महात्मा गांधी ने नस्ली भेदभाव का विरोध करने के लिए नटाल कांग्रेस का गठन किया था। क्या आप चित्र में गांधीजी को पहचान सकते हैं? वह पिछली कतार के ठीक बीच में कोट और टाई पहने दिखाई दे रहे हैं।

2019-2020

सामने आए। इन आंदोलनों के माध्यम से उनका राजेंद्र प्रसाद और वल्लभ भाई पटेल से परिचय हुआ। 1918 में अहमदाबाद में उन्होंने मिल मज़दूरों की हड़ताल का सफलतापूर्वक नेतृत्व किया।

आइए अब 1919 से 1922 के बीच के आंदोलनों को कुछ गहराई से देखें।

रॉलट सत्याग्रह

1919 में गांधीजी ने अंग्रेज़ों द्वारा हाल ही में पारित किए गए रॉलट कानून के खिलाफ सत्याग्रह का आह्वान किया। यह कानून अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जैसे मूलभूत अधिकारों पर अंकुश लगाने और पुलिस को और ज़्यादा अधिकार देने के लिए लागू किया गया था। महात्मा गांधी, मोहम्मद अली जिन्ना तथा अन्य नेताओं का मानना था कि सरकार के पास लोगों की बुनियादी स्वतंत्रताओं पर अंकुश लगाने का कोई अधिकार नहीं है। उन्होंने इस कानून को "शैतान की करतूत" और निरंकुशवादी बताया। गांधीजी ने लोगों से आह्वान किया कि इस कानून का विरोध करने के लिए 6 अप्रैल 1919 को अहिंसक विरोध दिवस के रूप में, "अपमान व याचना" दिवस के रूप में मनाया जाए और हड़तालें की जाएँ। आंदोलन शुरू करने के लिए सत्याग्रह सभाओं का गठन किया गया।

गतिविधि

जलियाँवाला बाग हत्याकांड के बारे में जानकारियाँ इकट्ठा करें। जलियाँवाला बाग क्या है? यहाँ किस तरह के अत्याचार हुए? ये अत्याचार कैसे हुए?

चित्र 7 – वह परिसर जहाँ जनरल डायर ने लोगों की सभा पर गोलियाँ चलाई थीं। बाद के इस चित्र में लोग दीवार पर बने गोलियों के निशानों की तरफ इशारा कर रहे हैं।

रॉलट सत्याग्रह ब्रिटिश सरकार के खिलाफ पहला अखिल भारतीय संघर्ष था हालांकि यह मोटे तौर पर शहरों तक ही सीमित था। अप्रैल 1919 में पूरे देश में जगह-जगह जुलूस निकाले गए और हड़तालों का आयोजन किया गया। सरकार ने इन आंदोलनों को कुचलने के लिए दमनकारी रास्ता अपनाया। बैसाखी (13 अप्रैल) के दिन अमृतसर में जनरल डायर द्वारा जलियाँवाला बाग में किया गया हत्याकांड इसी दमन का हिस्सा था। इस जनसंहार पर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी पीड़ा और गुस्सा जताते हुए **नाइटहुड** की उपाधि वापस लौटा दी।

नाइटहुड – ब्रिटिश राजा/रानी की तरफ से किसी व्यक्ति की अप्रतिम व्यक्तिगत सफलताओं या जनसेवा के लिए दी जाने वाली उपाधि।

2019-2020

रॉलट सत्याग्रह के दौरान लोगों ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ हिंदुओं और मुसलमानों के बीच गहरी एकता बनाए रखने के लिए प्रयास किए। महात्मा गांधी भी यही चाहते थे। उनकी राय में भारत यहाँ रहने वाले *सभी* लोगों, यानी सभी हिंदुओं, मुसलमानों और अन्य धर्मों के लोगों का देश है। उनकी गहरी आकांक्षा थी कि हिंदू और मुसलमान किसी भी न्यायपूर्ण उद्देश्य के लिए एक-दूसरे का समर्थन करें।

ख़िलाफ़त आंदोलन और अहसयोग आंदोलन

ख़िलाफ़त का मुद्दा इसी तरह का एक ज्वलंत मुद्दा था। 1920 में अंग्रेज़ों ने तुर्की के सुल्तान (ख़लीफ़ा) पर बहुत सख्त संधि थोप दी थी। जलियाँवाला बाग हत्याकांड की तरह इस घटना पर भी भारत के लोगों में भारी गुस्सा था। भारतीय मुसलमान यह भी चाहते थे कि पुराने ऑटोमन साम्राज्य में स्थित पवित्र मुसलिम स्थानों पर ख़लीफ़ा का नियंत्रण बना रहना चाहिए। ख़िलाफ़त आंदोलन के नेता मोहम्मद अली और शौकत अली अब एक सर्वव्यापी असहयोग आंदोलन शुरू करना चाहते थे। गांधीजी ने उनके आह्वान का समर्थन किया और कांग्रेस से आग्रह किया कि वह पंजाब में हुए अत्याचारों (जलियाँवाला हत्याकांड) और ख़िलाफ़त के मामले में हुए अत्याचार के विरुद्ध मिल कर अभियान चलाएँ और स्वराज की माँग करें।

1921-22 के दौरान अहसयोग आंदोलन को और गति मिली। हज़ारों विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूल-कॉलेज छोड़ दिए। मोतीलाल नेहरू, सी.आर. दास, सी. राजगोपालाचारी और आसफ़ अली जैसे बहुत सारे वकीलों ने वकालत छोड़ दी। अंग्रेज़ों द्वारा दी गई उपाधियों को वापस लौटा दिया गया और विधान मंडलों का बहिष्कार किया गया। जगह-जगह लोगों ने विदेशी कपड़ों की होली जलाई। 1920 से 1922 के बीच विदेशी कपड़ों के आयात में भारी गिरावट आ गई। परंतु यह तो आने वाले तूफ़ान की सिर्फ एक झलक थी। देश के ज़्यादातर हिस्से एक भारी विद्रोह के मुहाने पर खड़े थे।

लोगों की पहलकदमी

कई जगहों पर लोगों ने ब्रिटिश शासन का अहिंसक विरोध किया। लेकिन कई स्थानों पर विभिन्न वर्गों और समूहों ने गांधीजी के आह्वान के अपने हिसाब से अर्थ निकाले और इस तरह के रास्ते अपनाए जो गांधीजी के विचारों से मेल नहीं खाते थे। सभी जगह लोगों ने अपने आंदोलनों को स्थानीय मुद्दों के साथ जोड़कर आगे बढ़ाया। आइए ऐसे कुछ उदाहरणों पर विचार करें।

खेड़ा, गुजरात में पाटीदार किसानों ने अंग्रेज़ों द्वारा थोप दिए गए भारी लगान के खिलाफ अहिंसक अभियान चलाया। तटीय आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु के भीतरी भागों में शराब की दुकानों की **घेरेबंदी** की गई। आंध्र प्रदेश के गुंटूर ज़िले में आदिवासी और गरीब किसानों ने बहुत सारे "वन सत्याग्रह" किए। इन सत्याग्रहों में कई बार वे चरायी शुल्क अदा किए बिना भी अपने जानवरों को जंगल में छोड़ देते थे। उनका विरोध इसलिए था

स्रोत 3

पीड़ा का चिरंतन सिद्धांत

अहिंसा से गांधीजी का क्या आशय था? अहिंसा किसी संघर्ष का आधार कैसे बन सकती थी? इस बारे में गांधीजी का यह कहना था :

> प्रतिफल की मामूली सी भी इच्छा किए बिना लगातार अच्छे काम करते जाने से अहिंसा का जन्म होता है...। यही अहिंसा का सबसे अमूल्य सबक है...। दक्षिण अफ्रीका में... मैंने अन्याय और अत्याचार को रोकने के उद्देश्य से पीड़ा के अनन्त सिद्धांत को सीख लिया है। इसका सकारात्मक आशय अहिंसा से है। इसके लिए आपको किसी भी व्यक्ति के हाथों खुशी-खुशी पीड़ा सहने के लिए तैयार रहना चाहिए और आप किसी के प्रति दुर्भावना नहीं रखेंगे, यहाँ तक कि आपके साथ बुरा करने वालों के साथ भी नहीं।
>
> *महात्मा गांधी, 12 मार्च 1938*

घेरेबंदी – लोगों को किसी इमारत या दुकान में जाने से रोकने के लिए किया जाने वाला विरोध प्रदर्शन।

महंत *– सिख गुरुद्वारों के धार्मिक कर्ता-धर्ता*

गैर-कानूनी बेदखली – पटाईदारों को उनके पट्टे से जबरन और गैर-कानूनी ढंग से निकाल देना।

क्योंकि औपनिवेशिक सरकार ने वन संसाधनों पर उनके अधिकारों को बहुत सीमित कर दिया था। उन्हें यकीन था कि गांधीजी उन पर लगे कर कम करा देंगे और वन कानूनों को खत्म करा देंगे। बहुत सारे वन गाँवों में किसानों ने स्वराज का ऐलान कर दिया क्योंकि उन्हें उम्मीद थी कि "गांधी राज" जल्दी ही स्थापित होने वाला है।

सिंध (मौजूदा पाकिस्तान) में मुसलिम व्यापारी और किसान ख़िलाफ़त के आह्वान पर बहुत उत्साहित थे। बंगाल में भी ख़िलाफ़त-अहसयोग के गठबंधन ने जबर्दस्त साम्प्रदायिक एकता को जन्म दिया और राष्ट्रीय आंदोलन को नई ताकत प्रदान की।

पंजाब में सिखों के अकाली आंदोलन ने अंग्रेज़ों की सहायता से गुरुद्वारों में जमे बैठे भ्रष्ट **महंतों** को हटाने के लिए आंदोलन चलाया। यह आंदोलन अहसयोग आंदोलन से काफी घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ दिखाई देता था। असम में "गांधी महाराज की जय" के नारे लगाते हुए चाय बागान मज़दूरों ने अपनी तनख्वाह में इज़ाफे की माँग शुरू कर दी। उन्होंने अंग्रेज़ी स्वामित्व वाले बागानों की नौकरी छोड़ दी। उनका कहना था कि गांधीजी भी यही चाहते हैं। उस दौर के बहुत सारे असमिया वैष्णव गीतों में कृष्ण की जगह "गांधी राज" का यशगान किया जाने लगा था।

जनता के महात्मा

इन उदाहरणों के आधार पर हम देख सकते हैं कि कई जगह के लोग गांधीजी को एक तरह का मसीहा, एक ऐसा व्यक्ति मानने लगे थे जो उन्हें मुसीबतों और गरीबी से छुटकारा दिला सकता है। गांधीजी वर्गीय टकरावों की बजाय वर्गीय एकता के समर्थक थे। परंतु किसानों को लगता था कि गांधीजी जमींदारों के खिलाफ उनके संघर्ष में मदद देंगे। खेतिहर मज़दूरों को यकीन था कि गांधीजी उन्हें ज़मीन दिला देंगे। कई बार आम लोगों ने खुद अपनी उपलब्धियों के लिए भी गांधीजी को श्रेय दिया। उदाहरण के लिए, एक शक्तिशाली आंदोलन के बाद संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) स्थित प्रतापगढ़ के किसानों ने पट्टेदारों की गैर-कानूनी बेदखली को रुकवाने में सफलता पा ली थी परंतु उन्हें लगता था कि यह सफलता उन्हें गांधीजी की वजह से मिली है। कई बार गांधीजी का नाम लेकर आदिवासियों और किसानों ने ऐसी कार्रवाइयाँ भी कीं जो गांधीवादी आदर्शों के अनुरूप नहीं थीं।

चित्र 8 *– महात्मा गांधी की जनता से उपजी एक छवि।*

जनता से उपजी छवियों में भी महात्मा गांधी को अकसर एक दैवी शक्ति के रूप में दिखाया जाता रहा था। इस तसवीर में वह कृष्ण के सारथी बने हैं। मार्गदर्शन कर रहे हैं। वह अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ युद्ध में अन्य राष्ट्रवादी नेताओं का मार्गदर्शन कर रहे हैं।

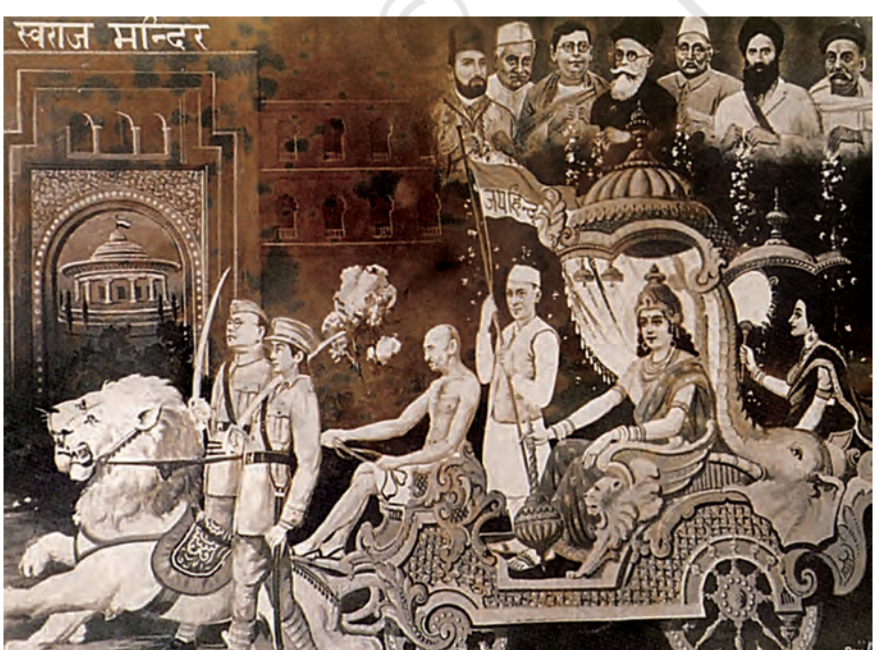

स्रोत 4

"वही थे जिन्होंने प्रतापगढ़ में बेदखली रुकवाई थी"

इलाहाबाद ज़िले में किसान आंदोलन पर सीआईडी द्वारा तैयार की गई जनवरी 1921 की रिपोर्ट का एक अंश इस प्रकार था :

> दूर-दराज़ के गाँवों में भी गांधीजी के नाम का सिक्का जितना चलने लगा है, उसे देखकर अचंभा होता है। किसी को भी पता नहीं है कि वह कौन हैं या क्या हैं? फिर भी सबने मान लिया है कि वे जो कहते हैं वह सही है और उनका जो भी आदेश है वह पूरा होना चाहिए। वह एक महात्मा या साधु, एक पंडित, इलाहाबाद के एक ब्राह्मण, यहाँ तक कि एक देवता हैं... उनके नाम की असली ताकत का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि प्रतापगढ़ के लोग मानते हैं कि उन्होंने ही बेदखली रुकवाई थी... आमतौर पर गांधीजी को लोग सरकार का विरोधी नहीं मानते बल्कि केवल ज़मींदारों का विरोधी मानते हैं... हम गांधीजी और सरकार के पक्ष में हैं।

गतिविधि

स्रोत 4 को पढ़ें।
इस रिपोर्ट के मुताबिक लोग महात्मा गांधी को किस तरह देखते थे। आपकी राय में लोग ऐसा क्यों सोचते थे कि गांधीजी ज़मींदारों के विरोधी हैं परंतु सरकार के विरोधी नहीं हैं। आपकी राय में लोग गांधीजी के अनुयायी क्यों थे?

1922-1929 की घटनाएँ

महात्मा गांधी हिंसक आंदोलनों के विरुद्ध थे। इसी कारण फरवरी 1922 में जब किसानों की एक भीड़ ने चौरी-चौरा पुलिस थाने पर हमला कर उसे जला दिया तो गांधीजी ने अचानक अहसयोग आंदोलन वापस ले लिया। उस दिन 22 पुलिस वाले मारे गये। किसान इसलिए बेकाबू हो गए थे क्योंकि पुलिस ने उनके शांतिपूर्ण जुलूस पर गोली चला दी थी।

असहयोग आंदोलन खत्म होने के बाद गांधीजी के अनुयायी ग्रामीण इलाकों में रचनात्मक कार्य शुरू करने पर ज़ोर देने लगे। चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू जैसे अन्य नेताओं की दलील थी कि पार्टी को परिषद चुनावों में हिस्सा लेना चाहिए और परिषदों के माध्यम से सरकारी नीतियों को प्रभावित करना चाहिए। बीस के दशक के मध्य में गाँवों में किए गए व्यापक सामाजिक कार्यों की बदौलत गांधीवादियों को अपना जनाधार फैलाने में काफी मदद मिली। 1930 में शुरू किए गए सविनय अवज्ञा आंदोलन के लिए यह जनाधार काफी उपयोगी साबित हुआ।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और हिंदुओं के संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) की स्थापना बीस के दशक के मध्य की दो महत्वपूर्ण घटनाएँ थीं। भारत के भविष्य को लेकर इन पार्टियों की सोच में गहरा फ़र्क रहा है। अपने अध्यापकों की सहायता से उनके विचारों के बारे में पता लगाएँ। उसी दौरान क्रांतिकारी राष्ट्रवादी भगत सिंह भी सक्रिय थे। इस दशक के आखिर

चित्र 9 *– चितरंजन दास।*

स्वतंत्रता आंदोलन में चितरंजन दास एक मुख्य नेता थे। वह पूर्वी बंगाल में वकील थे। अहसयोग आंदोलन में वह काफी सक्रिय रहे।

© NCERT not to be republished

चित्र 10 – साइमन कमीशन का विरोध करते आंदोलनकारी।

1927 में इंग्लैंड में बैठी ब्रिटिश सरकार ने लॉर्ड साइमन की अगुवाई में एक आयोग भारत भेजा। इस आयोग को भारत के राजनीतिक भविष्य का फैसला करना था। इस आयोग में कोई भारतीय प्रतिनिधि नहीं था। इस फैसले की वजह से भारत में भारी असंतोष पैदा हुआ। सभी राजनीतिक संगठनों ने भी आयोग के बहिष्कार का फैसला लिया। जब कमीशन के सदस्य भारत पहुँचे तो प्रदर्शनों के साथ उनका स्वागत किया गया। प्रदर्शनकारियों का नारा था, "साइमन वापस जाओ"।

में कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव पारित किया। जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में 1929 में पारित किए गए इस प्रस्ताव के आधार पर 26 जनवरी 1930 को पूरे देश में "स्वतंत्रता दिवस" मनाया गया।

चित्र 11 – भगत सिंह।

"बहरे कानों को सुनाने के लिए धमाके की ज़रूरत होती है। *इंक़लाब ज़िंदाबाद!*"

भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद, सुखदेव और उनके जैसे अन्य क्रांतिकारी राष्ट्रवादी औपनिवेशिक शासन तथा अमीर शोषक वर्गों से लड़ने के लिए मज़दूरों और किसानों की क्रांति चाहते थे। इस काम को पूरा करने के लिए उन्होंने 1928 में दिल्ली स्थित फिरोजशाह कोटला में हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन (एचएसआरए) की स्थापना की थी। 17 दिसंबर, 1928 को भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद एवं राजगुरु ने लाला लाजपत राय पर लाठीचार्ज करने वाले सांडर्स नामक पुलिस अफसर की हत्या की थी। इसी लाठीचार्ज के कारण बाद में लाजपत राय की मृत्यु हो गई थी।

अपने साथी राष्ट्रवादी बी.के. दत्त के साथ भगत सिंह ने 8 अप्रैल 1929 को केन्द्रीय विधान परिषद में बम फेंका था। क्रांतिकारियों ने अपने पर्चे में कहा था कि उनका मकसद किसी की जान लेना नहीं बल्कि "बहरों को सुनाना है" तथा विदेशी सरकार को उसके द्वारा किए जा रहे भयानक शोषण से अवगत कराना है। भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु को 23 मार्च, 1931 को फाँसी पर चढ़ा दिया गया। उस समय भगत सिंह की आयु सिर्फ 23 साल थी।

2019-2020

© NCERT not to be republished

दांडी मार्च

पूर्ण स्वराज अपने आप आने वाला नहीं था। इसके लिए लोगों को लड़ाई में उतरना था। 1930 में गांधीजी ने ऐलान किया कि वह नमक कानून तोड़ने के लिए यात्रा निकालेंगे। उस समय नमक के उत्पादन और बिक्री पर सरकार का एकाधिकार होता था। महात्मा गांधी और अन्य राष्ट्रवादियों का कहना था कि नमक पर टैक्स वसूलना पाप है क्योंकि यह हमारे भोजन का एक बुनियादी हिस्सा होता है। नमक सत्याग्रह ने स्वतंत्रता की व्यापक चाह को लोगों की एक खास शिकायत *सभी* से जोड़ दिया था और इस तरह अमीरों और गरीबों के बीच मतभेद पैदा नहीं होने दिया।

गांधीजी और उनके अनुयायी साबरमती से 240 किलोमीटर दूर स्थित दांडी तट पैदल चलकर गए और वहाँ उन्होंने तट पर बिखरा नमक इकट्ठा करते हुए नमक कानून का सार्वजनिक रूप से उल्लंघन किया।

चित्र 12 *– महात्मा गांधी प्राकृतिक नमक इकट्ठा करते हुए नमक कानून की अवहेलना कर रहे हैं, दांडी, 6 अप्रैल 1930.*

स्वतंत्रता संघर्ष में महिलाएँ : कर्नाटक की अम्बाबाई

राष्ट्रीय आंदोलन में अलग-अलग पृष्ठभूमि वाली बहुत सारी महिलाओं ने हिस्सा लिया। युवा और वृद्ध, अकेली और विवाहित, ग्रामीण और शहरी, रूढ़िवादी और उदारवादी, सभी तरह के माहौल से आने वाली महिलाएँ आंदोलन में शामिल हुईं। स्वतंत्रता संघर्ष, महिला आंदोलन और स्वयं उनके लिए भी यह हिस्सेदारी बहुत महत्वपूर्ण थी।

अंग्रेज़ अफसरों और भारतीय राष्ट्रवादियों, दोनों को लगता था कि महिलाओं की सहभागिता ने राष्ट्रीय संघर्ष को ज़बरदस्त ताकत दी है। स्वतंत्रता आंदोलन में हिस्सेदारी के कारण महिलाएँ घरों से बाहर आने लगी थीं। इसने उन्हें विभिन्न व्यवसायों व शासन में जगह दिलाई और पुरुषों के साथ समानता का मार्ग प्रशस्त किया।

महिलाओं के लिए सहभागिता का क्या अर्थ था? इसकी सबसे अच्छी अभिव्यक्ति खुद उन्हीं के शब्दों में देखी जा सकती है। कर्नाटक की अम्बाबाई का विवाह 12 साल की उम्र में कर दिया गया था। 16 साल की उम्र में वह विधवा हो गई। उन्होंने उडीपी में विदेशी कपड़ों और शराब की दुकानों की घेरेबंदी की। उन्हें गिरफ्तार किया गया और सज़ा दी गई। रिहा होने पर उन्हें दोबारा गिरफ्तार कर लिया गया। जब भी वह जेल से बाहर होतीं, सभाओं में भाषण देतीं, बुनाई-कताई सिखातीं और प्रभातफेरियों का आयोजन करतीं। अम्बाबाई इन्हें अपने जीवन के सबसे सुखद क्षण मानती थीं क्योंकि ऐसे क्षणों में उन्हें एक नया मकसद और प्रतिबद्धता दिखाई देती थी।

आंदोलन में हिस्सेदारी के अपने अधिकार को मनवाने के लिए महिलाओं को काफी जद्दोजहद करनी पड़ती थी। उदाहरण के लिए, नमक सत्याग्रह के दौरान शुरुआत में खुद महात्मा गांधी भी महिलाओं की हिस्सेदारी के समर्थन में नहीं थे। आखिरकार सरोजिनी नायडू ने उन्हें इस बात के लिए तैयार किया कि वे महिलाओं को भी आंदोलन में शामिल होने दें।

चित्र 13 – महात्मा गांधी के साथ सरोजिनी नायडू, पेरिस, 1931

1920 के दशक की शुरुआत से ही राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय सरोजिनी नायडू दांडी यात्रा के मुख्य नेताओं में से एक थीं। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर पहुँचने वाली वह पहली महिला थीं (1925)।

उन्होंने पानी उबालकर भी नमक बनाया। इस आंदोलन में किसानों, आदिवासियों और महिलाओं ने बड़ी संख्या में हिस्सा लिया। नमक के मुद्दे पर एक व्यावसायिक संघ ने पर्चा प्रकाशित किया। सरकार ने शांतिपूर्ण सत्याग्रहियों के निर्मम दमन के ज़रिए आंदोलन को कुचलने का प्रयास किया। हज़ारों आंदोलनकारियों को जेल में डाल दिया गया।

भारतीय जनता के साझा संघर्षों के चलते आखिरकार 1935 के गवर्मेंट ऑफ इंडिया एक्ट में **प्रांतीय स्वायत्तता** का प्रावधान किया गया। सरकार ने ऐलान किया कि 1937 में प्रांतीय विधायिकाओं के लिए चुनाव कराए जाएँगे। इन चुनावों के परिणाम आने पर 11 में से 7 प्रांतों में कांग्रेस की सरकार बनी।

प्रांतीय स्तर पर 2 साल के कांग्रेसी शासन के बाद सितंबर 1939 में दूसरा विश्व युद्ध छिड़ गया। हिटलर के प्रति आलोचनात्मक रवैये के कारण कांग्रेस के नेता ब्रिटेन के युद्ध प्रयासों में मदद देने को तैयार थे। इसके बदले में वे चाहते थे कि युद्ध के बाद भारत को स्वतंत्र कर दिया जाए। अंग्रेज़ों ने यह बात नहीं मानी। कांग्रेसी सरकारों ने विरोध में इस्तीफा दे दिया।

स्रोत 5

वीर लखन नायक को फाँसी दे दी गई

तीस के दशक में नबरंगपुर कांग्रेस, उड़ीसा के अध्यक्ष, बाजी मुहम्मद लिखते हैं :

> 25 अगस्त 1942 को... 19 लोग नबरंगपुर स्थित पपरंदी में हुई पुलिस फायरिंग में मौके पर ही मारे गए। बहुत सारे लोग बाद में घावों के कारण मर गए। 300 से ज्यादा घायल हुए। 1000 से ज्यादा को कोरापुट ज़िले की जेल में डाल दिया गया। कई को गोली मार दी गई या फाँसी पर लटका दिया गया। वीर लखन नायक (अंग्रेज़ों की अवहेलना करने वाले एक विख्यात जनजातीय नेता) को भी फाँसी पर लटका दिया गया।

बाजी हमें बताते हैं कि लखन नायक अपनी फाँसी के बारे में चिंतित नहीं थे बल्कि उन्हें केवल इस बात का दुख था कि वे स्वतंत्रता का प्रभात नहीं देख पाएँगे।

बाजी मुहम्मद ने राष्ट्रीय संघर्ष में शामिल होने के लिए 20,000 लोगों को लामबंद किया था। उन्होंने कई बार सत्याग्रह किया। उन्होंने दूसरे विश्व युद्ध के ख़िलाफ़ हुए विरोध और भारत छोड़ो आंदोलन में हिस्सा लिया तथा कई बार लंबे समय तक जेल में रहे।

प्रांतीय स्वायत्तता – संघ के भीतर रहते प्रांतों को तुलनात्मक रूप से स्वतंत्र निर्णय लेने की क्षमता देना।

2019-2020

चित्र 14 – भारत छोड़ो आंदोलन, अगस्त 1942

प्रदर्शनकारी हर जगह पुलिस से लोहा ले रहे थे। हज़ारों लोग गिरफ्तार हुए, हज़ार से ज़्यादा मारे गए और असंख्य लोग घायल हुए।

भारत छोड़ो और उसके बाद

महात्मा गांधी ने दूसरे विश्व युद्ध के बाद अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ आंदोलन का एक नया चरण शुरू किया। उन्होंने अंग्रेज़ों को चेतावनी दी कि वे फौरन भारत छोड़ दें। गांधीजी ने भारतीय जनता से आह्वान किया कि वे "करो या मरो" के सिद्धांत पर चलते हुए अंग्रेज़ों के विरुद्ध अहिंसक ढंग से संघर्ष करें। गांधीजी और अन्य नेताओं को फौरन जेल में डाल दिया गया। इसके बावजूद यह आंदोलन फैलता गया। किसान और युवा इस आंदोलन में बड़ी संख्या में शामिल हुए। विद्यार्थी अपनी पढ़ाई-लिखाई छोड़ कर आंदोलन में कूद पड़े। देश भर में संचार तथा राजसत्ता के प्रतीकों पर हमले हुए। बहुत सारे इलाकों में लोगों ने अपनी सरकार का गठन कर लिया।

सबसे पहले अंग्रेज़ों ने बर्बर दमन का रास्ता अपनाया। 1943 के अंत तक 90,000 से ज़्यादा लोग गिरफ्तार कर लिए गए थे और लगभग 1,000 लोग पुलिस की गोली से मारे गए थे। बहुत सारे इलाकों में हवाई जहाज़ों से भी भीड़ पर गोलियाँ बरसाने के आदेश दिए गए। परंतु आखिरकार इस विद्रोह ने ब्रिटिश राज को घुटने टेकने के लिए मजबूर कर दिया।

स्वतंत्रता और विभाजन की ओर

1940 में मुसलिम लीग ने देश के पश्चिमोत्तर तथा पूर्वी क्षेत्रों में मुसलमानों के लिए "स्वतंत्र राज्यों" की माँग करते हुए एक प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव में विभाजन या पाकिस्तान का ज़िक्र नहीं था। मुसलिम लीग ने उपमहाद्वीप के मुसलमानों के लिए स्वायत्त व्यवस्था की माँग क्यों की थी?

1930 के दशक के आखिरी सालों से लीग मुसलमानों और हिंदुओं को अलग-अलग "राष्ट्र" मानने लगी थी। इस विचार तक पहुँचने में बीस और तीस के दशकों में हिंदुओं और मुसलमानों के कुछ संगठनों के बीच हुए

बोस और आईएनए

चित्र 15 – सुभाषचंद्र बोस।

समाजवादी विचार रखने वाले आमूल परिवर्तनवादी राष्ट्रवादी सुभाषचंद्र बोस अहिंसा के गांधीवादी आदर्शों में विश्वास नहीं रखते थे हालांकि "राष्ट्रपिता" के रूप में गांधीजी का सम्मान करते थे। जनवरी 1941 में उन्होंने बिना किसी को बताए कलकत्ता छोड़ दिया और जर्मनी के रास्ते होते हुए सिंगापुर पहुँच गए। भारत को अंग्रेज़ों के नियंत्रण से मुक्त कराने के लिए उन्होंने वहाँ आज़ाद हिंद फौज (इंडियन नैशनल आर्मी-आईएनए) का गठन किया। 1944 में आज़ाद हिंद फौज ने इम्फाल और कोहिमा की ओर से भारत में प्रवेश करने का प्रयास किया परंतु यह अभियान सफल नहीं हो पाया। आईएनए के सदस्यों को कैद कर लिया गया और उन पर मुकदमे चलाए गए। देश भर में तमाम तरह के लोगों ने आज़ाद हिंद फौज के सिपाहियों पर चलाए गए मुकदमों के खिलाफ चले संघर्षों में हिस्सा लिया।

© NCERT not to be republished

चित्र 16 – मौलाना आज़ाद तथा कांग्रेस कार्यकारी समिति के अन्य सदस्य, सेवाग्राम, 1942

मौलाना आज़ाद का जन्म मक्का में हुआ था। उनके पिता बंगाली और माँ अरब मूल की थीं। बहुत सारी भाषाओं के जानकार आज़ाद इस्लाम के विद्वान और वहादते-दीन यानी सभी धर्मों की बुनियादी एकता के हिमायती थे। गांधीवादी आंदोलनों में हमेशा सक्रिय रहने वाले और हिंदू-मुसलिम एकता के पक्के हिमायती थे। उन्होंने जिन्ना के दो-राष्ट्र सिद्धांत का विरोध किया था।

चित्र 17 – गांधी-जिन्ना वार्ताओं से पहले गांधीजी के साथ बात करते चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, 1944

वयोवृद्ध राष्ट्रवादी और दक्षिण में नमक सत्याग्रह के नेता सी. राजगोपालाचारी 1946 में बनी अंतरिम सरकार के सदस्य थे और स्वतंत्र भारत के पहले भारतीय गवर्नर जनरल रहे। उन्हें लोग राजाजी के नाम से जानते थे।

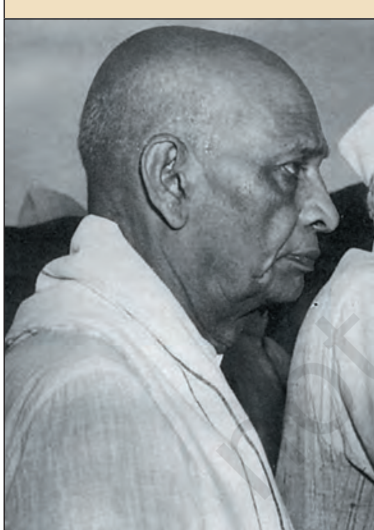

चित्र 18 – सरदार वल्लभ भाई पटेल ने 1945-47 के दौरान आज़ादी के लिए चली वार्ताओं में एक अहम भूमिका अदा की थी।

पटेल नादियाड़, गुजरात के एक गरीब किसान-व्यवसायी परिवार से थे।
1918 के बाद स्वतंत्रता आंदोलन की अगली कतार में रहने वाले पटेल 1931 में कांग्रेस के अध्यक्ष भी रहे।

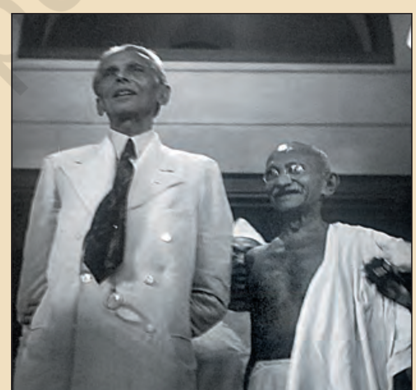

चित्र 19 – महात्मा गांधी के साथ मोहम्मद अली जिन्ना, सितंबर 1944

1920 तक हिंदू-मुसलिम एकता के समर्थन में सक्रिय रहे जिन्ना ने लखनऊ समझौता करवाने में एक अहम भूमिका अदा की थी। 1934 के बाद उन्होंने मुसलिम लीग को पुनर्जीवित किया और अंत में वे पाकिस्तान की स्थापना के सबसे मुख्य प्रवक्ताओं की कतार में जा पहुँचे।

चित्र 20 – जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन से पहले महात्मा गांधी से बात कर रहे हैं, जुलाई 1946

गांधीजी के शिष्य, कांग्रेस समाजवादी और अंतर्राष्ट्रीयतावादी विचार रखने वाले नेहरू राष्ट्रीय आंदोलन तथा स्वतंत्र भारत की आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था के मुख्य शिल्पियों में से थे।

"सामान्य" निर्वाचन क्षेत्र – ऐसे निर्वाचन क्षेत्र जहाँ किसी धार्मिक तथा अन्य सम्प्रदाय के लिए कोई आरक्षण नहीं था।

तनावों का भी हाथ रहा होगा। 1937 के प्रांतीय चुनाव संभवत: इससे भी ज़्यादा बड़ा कारण रहे। इन चुनावों ने मुसलिम लीग को इस बात का यकीन दिला दिया था कि यहाँ मुसलमान अल्पसंख्यक हैं और किसी भी लोकतांत्रिक संरचना में उन्हें हमेशा गौण भूमिका निभानी पड़ेगी। लीग को यह भी भय था कि संभव है कि मुसलमानों को प्रतिनिधित्व ही न मिल पाए। 1937 में मुसलिम लीग संयुक्त प्रांत में कांग्रेस के साथ मिलकर सरकार बनना चाहती थी परंतु कांग्रेस ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया जिससे फासला और बढ़ गया।

तीस के दशक में मुसलिम जनता को अपने साथ लामबंद करने में कांग्रेस की विफलता ने भी लीग को अपना सामाजिक जनाधार फैलाने में मदद दी। चालीस के दशक के शुरुआती सालों में जिस समय कांग्रेस के ज़्यादातर नेता जेल में थे, उस समय लीग ने अपना प्रभाव फैलाने के लिए तेज़ी से प्रयास किए। 1945 में विश्व युद्ध खत्म होने के बाद अंग्रेज़ों ने भारतीय स्वतंत्रता के लिए कांग्रेस और लीग से बातचीत शुरू कर दी। यह वार्ता असफल रही क्योंकि लीग का कहना था कि उसे भारतीय मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधि माना जाए। कांग्रेस इस दावे को मंज़ूर नहीं कर सकती थी क्योंकि बहुत सारे मुसलमान अभी भी उसके साथ थे।

1946 में दोबारा प्रांतीय चुनाव हुए। **"सामान्य" निर्वाचन क्षेत्रों** में कांग्रेस का प्रदर्शन तो अच्छा रहा परंतु मुसलमानों के लिए आरक्षित सीटों पर लीग को बेजोड़ सफलता मिली। लीग "पाकिस्तान" की माँग पर चलती रही। मार्च 1946 में ब्रिटिश सरकार ने इस माँग का अध्ययन करने और स्वतंत्र भारत के लिए एक सही राजनीतिक बंदोबस्त सुझाने के लिए तीन सदस्यीय परिसंघ भारत भेजा। इस परिसंघ ने सुझाव दिया कि भारत अविभाजित रहे और उसे मुसलिम बहुल क्षेत्रों को कुछ स्वायत्तता देते हुए एक ढीले-ढाले महासंघ के रूप में संगठित किया जाए। कांग्रेस और मुसलिम लीग, दोनों ही इस प्रस्ताव के कुछ खास प्रावधानों पर सहमत नहीं थे। अब देश का विभाजन अवश्यंभावी था।

चित्र 21 – ख़ान अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ान उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत के प्रमुख पश्तून नेताओं में से एक थे। इस चित्र में अपने सहयोगियों के साथ बिहार में एक शांति यात्रा में हिस्सा ले रहे हैं, मार्च 1947.

ग़फ़्फ़ार खान को बादशाह ख़ान के नाम से भी जाना जाता है। वह खुदाई खिदमतगार संगठन के संस्थापक थे। यह उनके प्रांत के पठानों में लोकप्रिय शक्तिशाली अहिंसक आंदोलन था। बादशाह ख़ान भारत विभाजन के सख्त ख़िलाफ थे। उन्होंने 1947 में इस फैसले पर मंज़ूरी देने के लिए कांग्रेस के अपने साथियों की भर्त्सना की थी।

चित्र 22 – हिंसाग्रस्त पंजाब से आए शरणार्थी आश्रय और भोजन की तलाश में दिल्ली में इकट्ठा हो रहे हैं।

कैबिनेट मिशन की इस विफलता के बाद मुसलिम लीग ने पाकिस्तान की अपनी माँग मनवाने के लिए जनांदोलन शुरू करने का फैसला लिया। उसने 16 अगस्त 1946 को "प्रत्यक्ष कार्रवाई दिवस" मनाने का आह्वान किया। इसी दिन कलकत्ता में दंगे भड़क उठे जो कई दिन चलते रहे। इन दंगों में हज़ारों लोग मारे गए। मार्च 1947 तक उत्तर भारत के विभिन्न भागों में भी हिंसा फैल गई थी।

कई लाख लोग मारे गए। असंख्य महिलाओं को विभाजन की इस हिंसा में अकथनीय अत्याचारों का सामना करना पड़ा। करोड़ों लोगों को अपने घर-बार छोड़कर भागना पड़ा। अपने मूल स्थानों से बिछड़कर ये लोग रातोंरात अजनबी ज़मीन पर शरणार्थी बनकर रह गए। विभाजन का नतीजा यह भी हुआ कि भारत की शक्ल-सूरत बदल गई, उसके शहरों का माहौल बदल गया और एक नए देश – पाकिस्तान – का जन्म हुआ। इस तरह ब्रिटिश शासन से स्वतंत्रता का यह आनंद विभाजन की पीड़ा और हिंसा के साथ हमारे सामने आया।

अन्यत्र

अफ्रीका में राष्ट्रवाद : घाना का उदाहरण

उन्नीसवीं सदी के आखिर और बीसवीं सदी की शुरुआत में बहुत सारे अफ्रीकी और एशियाई देशों में राष्ट्रवाद का उदय हुआ। इनमें से बहुत सारे देशों में राष्ट्रवाद का उदय स्वतंत्रता के लिए उपनिवेशवाद विरोधी संघर्षों के तहत हुआ था।

अफ्रीका में औपनिवेशिक शासन तानाशाही जैसा था। विदेशी शासकों के प्रतिनिधि के रूप में केवल "मुखियाओं" को ही शासन चलाने की छूट दी जाती थी। या फिर अफ्रीकियों के बारे में केवल गोरे प्रतिनिधियों वाली सभाएँ कानून बनाती थीं। कम से कम दूसरे विश्व युद्ध के बाद तक अफ्रीकियों के पास निर्णय लेने या प्रतिनिधित्व की ताकत नहीं थी। स्थानीय भूस्वामियों या किसानों से ज़मीन का ज़बरन अधिग्रहण, करों में वृद्धि और खराब कार्यपरिस्थितियों की वजह से बहुत सारे अफ्रीकी आंदोलन शुरू हुए।

1957 में घाना स्वतंत्रता पाने वाला उप-सहारा अफ्रीका का पहला देश बना। इससे पहले उसे गोल्ड कोस्ट के नाम से जाना जाता था। यहाँ स्वतंत्रता आंदोलन का नेतृत्व कुआमे नकरूमा की कन्वेंशन पीपुल्स पार्टी कर रही थी। घाना की जनता ने स्वतंत्रता के लिए हड़ताल, बहिष्कार और जनांदोलनों का रास्ता अपनाया था। 1951 में कन्वेंशन पीपुल्स पार्टी को चुनावों में ज़बर्दस्त सफलता मिली थी। इस पार्टी ने उस प्रणाली का विरोध किया जिसमें ब्रिटिश शासकों ने मुखियाओं को विधान सभाओं में अपने प्रतिनिधियों को भेजने का अधिकार दिया हुआ था। इस पार्टी ने अंग्रेज़ों पर दबाव डाला कि वे ऐसी विधानसभा बनाएँ जिसमें कोई मनोनीत या विशेष सदस्य न हों। 1954 में इस माँग को मान लिया गया। 1956 में नई विधान परिषद के लिए चुनाव हुए। कन्वेंशन पीपुल्स पार्टी ने इन चुनावों में सफलता पाई और इस तरह "घाना" के नाम से एक नवस्वाधीन राष्ट्र के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया।

2019-2020

फिर से याद करें

1. 1870 और 1880 के दशकों में लोग ब्रिटिश शासन से क्यों असंतुष्ट थे?
2. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस किन लोगों के पक्ष मे बोल रही थी?
3. पहले विश्व युद्ध से भारत पर कौन से आर्थिक असर पड़े?
4. 1940 के मुसलिम लीग के प्रस्ताव में क्या माँग की गई थी?

आइए विचार करें

5. मध्यमार्गी कौन थे? वे ब्रिटिश शासन के खिलाफ किस तरह का संघर्ष करना चाहते थे?
6. कांग्रेस में आमूल परिवर्तनवादी की राजनीति मध्यमार्गी की राजनीति से किस तरह भिन्न थी?
7. चर्चा करें कि भारत के विभिन्न भागों में असहयोग आंदोलन ने किस-किस तरह के रूप ग्रहण किए? लोग गांधीजी के बारे में क्या समझते थे?
8. गांधीजी ने नमक कानून तोड़ने का फैसला क्यों लिया?
9. 1937-47 की उन घटनाओं पर चर्चा करें जिनके फलस्वरूप पाकिस्तान का जन्म हुआ?

आइए करके देखें

10. पता लगाएं कि आपके शहर, ज़िले, इलाके या राज्य में राष्ट्रीय आंदोलन किस तरह आयोजित किया गया। किन लोगों ने उसमें हिस्सा लिया और किन लोगों ने उसका नेतृत्व किया? आपके इलाके में आंदोलन को कौन सी सफलताएँ मिलीं?
11. राष्ट्रीय आंदोलन के किन्हीं दो सहभागियों या नेताओं के जीवन और कृतित्व के बारे में और पता लगाएँ तथा उनके बारे में एक संक्षिप्त निबंध लिखें। आप किसी ऐसे व्यक्ति को भी चुन सकते हैं जिसका इस अध्याय में ज़िक्र नहीं आया है।

आइए कल्पना करें

मान लीजिए कि आप भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय हैं। इस अध्याय को पढ़ने के बाद संक्षेप में बताइए कि आप संघर्ष के लिए कौन से तरीके अपनाते और आप किस तरह का स्वतंत्र भारत रचते?

© NCERT not to be republished

10 स्वतंत्रता के बाद

0865CH10

एक नया और खंडित राष्ट्र

अगस्त 1947 में जब भारत आज़ाद हुआ तो उसके सामने कई बड़ी चुनौतियाँ थीं। बँटवारे की वजह से 80 लाख शरणार्थी पाकिस्तान से भारत आ गए थे। इन लोगों के लिए रहने का इंतजाम करना और उन्हें रोज़गार देना ज़रूरी था। इसके बाद रियासतों की समस्या थी। तकरीबन 500 रियासतें राजाओं या नवाबों के शासन में चल रही थीं। इन सभी को नए राष्ट्र में शामिल होने के लिए तैयार करना एक टेढ़ा काम था। शरणार्थियों और रियासतों की समस्या पर फौरन ध्यान देना लाज़िमी था। लंबे दौर में इस नवजात राष्ट्र को एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था भी विकसित करनी थी जो यहाँ के लोगों की आशाओं और आकांक्षाओं को सबसे अच्छी तरह व्यक्त कर सके।

चित्र 1 *– इलाहाबाद में महात्मा गांधी की अस्थियों का विर्सजन, फरवरी 1948*

अभी स्वतंत्रता को छः महीने भी नहीं हुये थे कि सारा राष्ट्र गहरे शोक में पड़ गया। 30 जनवरी 1948 को कट्टर विचारों वाले नाथूराम गोडसे ने महात्मा गांधी की हत्या कर दी। वह गांधीजी के इस दृढ़ विश्वास से मतभेद रखता था कि हिन्दुओं और मुसलमानों को सदभावना बनाते हुये इकट्ठे रहना चाहिए। उसी शाम हक्के-बक्के राष्ट्र ने आकाशवाणी पर जवाहरलाल नेहरू का भावुक भाषण सुना "दोस्तो, साथियो, हमारी ज़िंदगी की रोशनी बुझ गई और चारों तरफ अँधेरा है... हमारे प्रिय नेता... राष्ट्रपिता अब नहीं रहे।"

1947 में भारत की आबादी काफी बड़ी थी – तकरीबन 34.5 करोड़। यह आबादी भी आपस में बँटी हुई थी। इसमें ऊँची जाति और नीची जाति, बहुल हिंदू समुदाय और अन्य धर्मों को मानने वाले भारतीय थे। इस विशाल देश के लोग तरह-तरह की भाषाएँ बोलते थे, उनके पहनावों में भारी फ़र्क था, उनके खान-पान और काम-धंधों में भारी विविधता थी। इतनी विविधता वाले लोगों को एक राष्ट्र-राज्य के रूप में कैसे संगठित किया जा सकता था?

एकता की समस्या के साथ ही विकास भी एक बड़ी समस्या थी। स्वतंत्रता के समय भारत की एक विशाल संख्या गाँवों में रहती थी। आजीविका के लिए किसान और काश्तकार बारिश पर निर्भर रहते थे। यही स्थिति अर्थव्यवस्था के गैर-कृषि क्षेत्रों की थी। अगर फसल चौपट हो जाती तो नाई, बढ़ई, बुनकर और अन्य कारीगरों की आमदनी पर भी संकट पैदा हो जाता था। शहरों में फैक्ट्री मज़दूर भीड़ भरी झुग्गी बस्तियों में रहते थे जहाँ शिक्षा या स्वास्थ्य सुविधाओं की खास व्यवस्था नहीं थी। इस विशाल आबादी को गरीबी के चंगुल से निकालने के लिए न केवल खेती की उपज बढ़ाना ज़रूरी था बल्कि नए उद्योगों का निर्माण भी करना था जहाँ लोगों को रोज़गार मिल सके।

एकता और विकास की प्रक्रियाओं को साथ-साथ चलना था। अगर भारत के विभिन्न तबकों के बीच मौजूद मतभेदों को दूर न किया जाता तो वे हिंसक और बहुत खतरनाक टकरावों का रूप ले सकते थे। लिहाज़ा ऐसे टकराव देश के लिए मँहगे भी पड़ते थे। कहीं ऊँची जाति और नीची जाति के बीच, कहीं हिंदुओं और मुसलमानों के बीच तो कहीं किसी और वजह से तनाव की आशंका बनी हुई थी। दूसरी तरफ, अगर आर्थिक विकास के लाभ आबादी के बड़े हिस्से को नहीं मिलते हैं तो और ज़्यादा भेदभाव पैदा हो सकता था। ऐसी स्थिति में अमीर और गरीब, शहर और देहात, संपन्न और पिछड़े इलाकों का फ़र्क पैदा हो सकता था।

गतिविधि

कल्पना कीजिए कि आप 1947 में भारत से जाने वाले एक ब्रिटिश अफसर हैं। उसी समय आप अपने घर वालों के नाम खत लिखते हैं जिसमें आप इस बात की चर्चा कर रहे हैं कि अंग्रेज़ों की अनुपस्थिति में भारत का क्या होगा। भारत के भविष्य के बारे में आपकी क्या राय होगी?

नए संविधान की रचना

दिसंबर 1946 से नवंबर 1949 के बीच तकरीबन 300 भारतीयों ने देश के राजनीतिक भविष्य के बारे में लंबा विचार-विमर्श किया। यद्यपि इस "संविधान सभा" की बैठकें नई दिल्ली में आयोजित की गई थीं परंतु इसके सदस्य पूरे देश में फैले हुए थे और वे बहुत सारी राजनीतिक पार्टियों के प्रतिनिधि थे। इन्हीं चर्चाओं के फलस्वरूप भारत का संविधान लिखा गया जिसे 26 जनवरी 1950 को लागू किया गया।

हमारे संविधान की एक खासियत यह थी कि उसमें **सार्वभौमिक वयस्क** मताधिकार का प्रावधान किया गया था। इसका मतलब यह था कि 21 साल से ज़्यादा उम्र के सभी भारतीयों को प्रांतीय और राष्ट्रीय चुनावों में वोट देने का अधिकार था। यह एक क्रांतिकारी कदम था। इससे पहले कभी भी भारतीयों को खुद अपने नेता चुनने का अधिकार नहीं मिला था। ब्रिटेन और अमरीका जैसे अन्य देशों की जनता को यह अधिकार टुकड़ों-टुकड़ों में

सार्वभौमिक वयस्क–
सभी वयस्क नागरिकों को मत देने का अधिकार

2019-2020

© NCERT not to be republished

चित्र 2 – संविधान के उद्देश्यों पर रोशनी डालने वाले प्रस्ताव को पढ़ते हुए जवाहरलाल नेहरू।

ही दिया गया था। वहाँ सबसे पहले संपन्न पुरुषों को वोट देने का अधिकार मिला। इसके बाद शिक्षित पुरुषों को भी मताधिकार दिया गया। मज़दूर पुरुषों को काफी लंबे संघर्ष के बाद यह अधिकार मिला। महिलाओं को सबसे अंत में मताधिकार दिया गया – वह भी लंबे जुझारू संघर्ष के बाद। इसके विपरीत, भारत में आज़ादी के कुछ ही समय बाद ये फैसला ले लिया गया था कि देश के सभी स्त्री–पुरुषों को यह अधिकार दिया जाएगा भले ही वे अमीर हों या गरीब, पढ़े–लिखे हों या अनपढ़ हों।

संविधान की दूसरी विशेषता यह थी कि उसमें तमाम जातियों, धर्मों या किसी भी तरह की पृष्ठभूमि से संबंध रखने वाले सभी नागरिकों को कानून की नज़र में समान माना गया। भारत के कुछ लोग चाहते थे कि भारत की राजनीतिक व्यवस्था हिंदू आदर्शों पर आधारित हो और भारत को एक हिंदू देश घोषित किया जाए। अपनी बात के समर्थन में उन्होंने पाकिस्तान का उदाहरण दिया जिसका गठन ही एक खास समुदाय – मुसलमानों – के हितों की रक्षा के लिए किया गया था। परंतु भारतीय प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू का स्पष्ट मत था कि भारत "हिंदू पाकिस्तान" नहीं बन सकता और न ही बनना चाहिए।

मुसलमानों के अलावा भारत में सिख और ईसाइयों की भी बड़ी संख्या थी। इसके अलावा पारसी, जैन तथा अन्य धर्मों के लोग भी थे। नए संविधान में इन सभी समुदायों के लोगों को भी वही अधिकार दिए गए जो अधिकार हिंदुओं को दिए गए थे। चाहे सरकारी या निजी क्षेत्र की नौकरियों का सवाल हो या कानून से संबंधित कोई मामला हो, इन सभी समुदायों के लोगों को भी वैसे ही अवसर देने का प्रावधान किया गया जैसे हिंदुओं को दिए जा रहे थे।

2019-2020

संविधान की तीसरी विशेषता यह थी कि इसमें समाज के निर्धन और सबसे वंचित तबकों के लिए विशेष सुविधाओं की व्यवस्था की गई थी। "भारत के सम्मान" को "कलंकित" करने वाली छुआछूत के चलन को खत्म कर दिया गया। अब तक हिंदुओं के मंदिरों में केवल ऊँची जातियों के लोग ही जाते थे लेकिन अब उन्हें सभी लोगों के लिए खोल दिया गया। जिन्हें अब तक अछूत माना जाता था, अब वे भी मंदिरों में जा सकते थे। एक लंबी बहस के बाद संविधान सभा ने यह भी तय किया कि विधायिका की कुछ सीटें और सरकारी नौकरियों में कुछ हिस्सा "निचली जातियों" के सदस्यों के लिए आरक्षित किया जाए। कुछ लोगों की दलील थी कि अछूत – जिन्हें उस समय हरिजन कहा जाता था – उम्मीदवारों के पास इतने अंक या शैक्षणिक योग्यता नहीं होती कि वे भारतीय प्रशासनिक सेवा जैसी प्रतिष्ठित नौकरियों में जा सकें। परंतु, जैसा कि संविधान सभा के सदस्य एच. जे. खांडेकर ने कहा था, हरिजनों की "अक्षमता के लिए" ऊँची जातियाँ ज़िम्मेदार हैं। अपने सुविधासंपन्न सहकर्मियों को संबोधित करते हुए खांडेकर ने कहा था :

> हमें हज़ारों साल तक दबाकर रखा गया है। आप लोगों ने हमें अपनी सेवा में लगाए रखा और हमें इस कदर दबाया है कि अब न केवल हमारे मस्तिष्क और शरीर, बल्कि हमारा हृदय भी काम नहीं करता और न ही हम आगे बढ़ पाने में सक्षम हैं।

भूतपूर्व "अछूतों" के साथ-साथ आदिवासियों या अनुसूचित जनजातियों को भी विधायिका और नौकरियों में आरक्षण दिया गया। अनुसूचित जातियों की तरह इन भारतीयों को भी वंचित रखा गया था और उनके साथ भेदभाव किया गया था। आदिवासी आधुनिक स्वास्थ्य सुविधाओं और शिक्षा से वंचित थे। उनकी ज़मीन और जंगलों पर समुदाय से बाहर के ताकतवर लोगों का कब्ज़ा होता जा रहा था। संविधान से उन्हें जो नए अधिकार मिले उनका उद्देश्य इस स्थिति में सुधार लाने का था।

संविधान सभा के सदस्यों ने केंद्र और राज्य सरकारों की शक्तियों और अधिकारों के बँटवारे पर भी लंबी चर्चा की। कुछ लोगों का मानना था कि केंद्र के हित सबसे महत्त्वपूर्ण होने चाहिए। उनका कहना था कि यदि केंद्र मज़बूत होगा तो "तभी वह पूरे देश की उन्नति के लिए सोचने और योजना बनाने में सक्षम होगा।" कई अन्य सदस्यों का मानना था कि राज्यों को ज़्यादा स्वायत्तता और आज़ादी मिलनी चाहिए। मैसूर के एक सदस्य का कहना था कि मौजूदा व्यवस्था में "लोकतंत्र दिल्ली में केंद्रित है और इसलिए बाकी देश में वह इसी भावना और अर्थ में साकार नहीं हो रहा है।"

स्रोत 1

हमें उन्हें सुरक्षा और अधिकार ज़रूर देने चाहिए।

मुख्यमंत्रियों को लिखे एक पत्र में नेहरू ने कहा था :

> ...हमारे पास एक मुसलिम अल्पसंख्यक समुदाय है जो संख्या की दृष्टि से इतना बड़ा है कि अगर वे चाहें तो भी कहीं नहीं जा सकते। यह एक बुनियादी तथ्य है जिसके बारे में बहस की कोई गुंजाइश नहीं है। पाकिस्तान की तरफ से चाहे जितना उकसावा हो और वहाँ के गैर-मुसलमानों पर चाहे जो भी अत्याचार हो रहे हों, हमें इस अल्पसंख्यक समुदाय के साथ सभ्य ढंग से व्यवहार करना है। हमें इस समुदाय को भी वही सुरक्षा और अधिकार देने होंगे जो किसी लोकतांत्रिक राज्य के नागरिकों को मिलते हैं।

गतिविधि

एक मुसलिम परिवार में बाप-बेटे के बीच हो रही बातचीत की कल्पना कीजिए। बेटा मानता है कि विभाजन के बाद परिवार को पाकिस्तान चले जाना चाहिए जबकि पिता का विश्वास है कि उन्हें भारत में ही रहना चाहिए। इस अध्याय (तथा अध्याय 11) में दी गई सूचनाओं के आधार पर अभिनय करके बताएँ कि दोनों के तर्क क्या होंगे।

2019-2020

© NCERT not to be republished

चित्र 3 – डॉ. बी.आर. अंबेडकर।

डॉ. बी.आर. अंबेडकर (1891–1956) को प्यार से लोग बाबासाहेब के नाम से पुकारते थे। वह एक मराठी भाषी दलित परिवार से थे। डॉ. अंबेडकर एक जाने-माने वकील और अर्थशास्त्री थे। उन्हें दलितों का एक महान नेता और भारतीय संविधान का जनक माना जाता है।

मद्रास के एक सदस्य का आग्रह था कि "राज्य स्तर पर लोगों की कुशलक्षेम का प्रारंभिक भार प्रांतीय सरकारों के ऊपर ही होना चाहिए।"

इन मतभेदों को दूर करने के लिए संविधान में विभिन्न विषयों को तीन सूचियों में बाँट दिया गया – केंद्रीय सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। केंद्रीय सूची में कराधान, रक्षा और विदेशी मामलों आदि को रखा गया। ये ऐसे विषय थे जो केवल केंद्र सरकार के अधीन थे। राज्य सूची में शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे विषय लिए गए जिनकी ज़िम्मेदारी मुख्य रूप से राज्य सरकारों के ऊपर थी। समवर्ती सूची में वन एवं कृषि आदि ऐसे विषयों को रखा गया जिनके बारे में केंद्र और राज्य सरकारें, दोनों संयुक्त रूप से फैसला ले सकते थे।

संविधान सभा में भाषा के सवाल पर बड़ी तीखी बहस हुई। बहुत सारे लोगों का मानना था कि अंग्रेज़ों के साथ अंग्रेज़ी भाषा को भी विदा कर दिया जाना चाहिए। उनका कहना था कि अंग्रेज़ी की जगह हिंदी को अपनाया जाना चाहिए। परन्तु जो लोग हिंदी नहीं बोलते थे उनकी राय अलग थी। संविधान सभा में बोलते हुए टी.टी. कृष्णमाचारी ने "दक्षिण के लोगों की ओर से चेतावनी" देते हुए कहा कि अगर उन पर हिंदी थोपी गई तो वहाँ के बहुत सारे लोग भारत से अलग हो जाएँगे। इस विवाद से बचने के लिए आखिरकार बीच का रास्ता निकाल लिया गया। संविधान निर्माताओं ने हिंदी को भारत की "राजभाषा" का दर्जा दिया जबकि अदालतों, सेवाओं, विभिन्न राज्यों के बीच संचार आदि के लिए अंग्रेज़ी के इस्तेमाल का फैसला लिया गया।

संविधान की रचना में बहुत सारे भारतीयों ने योगदान दिया था। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान संभवत: डॉ. बी.आर. अंबेडकर का था जो संविधान सभा की प्रारूप समिति के अध्यक्ष थे और जिनके नेतृत्व में दस्तावेज़ को अंतिम रूप दिया गया था। संविधान सभा के सामने अपने आखिरी भाषण में डॉ. अंबेडकर ने कहा कि राजनीतिक लोकतंत्र के साथ-साथ आर्थिक और सामाजिक लोकतंत्र भी ज़रूरी है। यदि लोगों को वोट डालने का अधिकार दे दिया जाता है तो इससे अमीर-गरीब या ऊँची और नीची जातियों का फासला अपने-आप खत्म नहीं हो जाएगा। उन्होंने कहा कि नए संविधान के साथ भारत –

> अंतर्विरोधों के एक नए युग में प्रवेश करने जा रहा है। राजनीति में हमारे पास समानता होगी और सामाजिक व आर्थिक जीवन में हम असमानता की राह पर चलेंगे। राजनीति में हम एक व्यक्ति, एक

गतिविधि

अंग्रेज़ी को भारत की एक भाषा के रूप में बनाए रखने के फैसले के आज की तारीख में होने वाले एक फायदे और एक नुकसान पर अपनी कक्षा में चर्चा कीजिए।

© NCERT not to be republished

वोट और एक मूल्य के सिद्धांत का पालन करेंगे। इसके विपरीत, अपनी सामाजिक एवं आर्थिक संरचना के फलस्वरूप हम सामाजिक और आर्थिक जीवन में एक व्यक्ति, एक मूल्य के सिद्धांत का निषेध करते रहेंगे।

राज्यों का गठन कैसे किया जाए?

1920 के दशक में स्वतंत्रता संघर्ष की मुख्य पार्टी – भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस – ने आश्वासन दिया था कि जैसे ही देश आज़ाद हो जाएगा, प्रत्येक बड़े **भाषायी** समूह का अपना अलग प्रांत होगा। आज़ादी मिलने के बाद कांग्रेस ने इस आश्वासन को पूरा करने के लिए कोई कदम नहीं उठाया। क्योंकि भारत धर्म के आधार पर बँट चुका था इसलिए महात्मा गांधी की तमाम इच्छाओं और प्रयासों के बावजूद यह स्वतंत्रता एक राष्ट्र को नहीं बल्कि दो राष्ट्रों को मिल रही थी। देश विभाजन के फलस्वरूप हिंदुओं और मुसलमानों के बीच हुए भीषण दंगों में 10 लाख से ज़्यादा लोग मारे गए थे। ऐसे में यह चिंता स्वाभाविक थी कि क्या हमारा देश भाषा के आधार पर इस तरह के और बँटवारे झेल सकता था?

भाषायी – भाषा से संबंधित

प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू और उप-प्रधानमंत्री वल्लभभाई पटेल, दोनों ही भाषा के आधार पर राज्यों के गठन की नीति के विरोधी थे। विभाजन के बाद नेहरू ने कहा था कि "उपद्रवकारी प्रवृत्तियाँ सिर उठा रही हैं" जिन पर अंकुश लगाने के लिए राष्ट्र को शक्तिशाली और एकजुट होना चाहिए। वरना, जैसा कि पटेल ने कहा :

...इस समय भारत की पहली और आखिरी ज़रूरत यह है कि उसे एक राष्ट्र बनाया जाए...। राष्ट्रवाद को बढ़ावा देने वाली हर चीज़ आगे बढ़नी चाहिए और उसके रास्ते में रुकावट डालने वाली हर चीज़ को खारिज कर दिया जाना चाहिए...। हमने यही कसौटी भाषायी प्रांतों के सवाल पर भी अपनाई है और इस कसौटी के हिसाब से हमारी राय में (इस माँग को) समर्थन नहीं दिया जा सकता।

क्योंकि कांग्रेस के नेता अपने वायदे से पीछे हट रहे थे इसलिए जगह-जगह असंतोष पैदा हुआ। कन्नड़भाषी, मलयालम भाषी, मराठी भाषी, सभी अपने-अपने राज्य के इंतज़ार में थे। सबसे गहरा असंतोष मद्रास प्रेज़ीडेंसी के तेलुगू भाषी ज़िलों में दिखाई दिया। जब 1952 के आम चुनावों में नेहरू वहाँ चुनाव प्रचार के लिए गए तो लोगों ने उन्हें काले झंडे दिखाए और "हमें आंध्र चाहिए" के नारे लगाए। उसी साल अक्तूबर में वयोवृद्ध गांधीवादी पोट्टी श्रीरामुलु तेलुगूभाषियों के हितों की रक्षा के लिए आंध्र राज्य के गठन की माँग करते हुए भूख हड़ताल पर बैठ गए। जैसे-जैसे अनशन आगे बढ़ा, बहुत सारे लोग श्रीरामुलु के समर्थन में आगे आने लगे। जगह-जगह लोग हड़ताल करने लगे और जुलूस निकालने लगे।

__चित्र 4__ – गांधीवादी नेता पोट्टी श्रीरामुलु। तेलुगूभाषियों के लिए अलग राज्य की माँग करते हुए अनशन पर ही उनकी मृत्यु हो गई थी।

© NCERT not to be republished

58 दिन के अनशन के बाद 15 दिसंबर 1952 को पोट्टी श्रीरामुलु का देहांत हो गया। जैसा कि एक अखबार ने लिखा था, "श्रीरामुलु के देहांत की खबर ने पूरे आंध्र को अस्त-व्यस्त कर डाला।" विरोध इतना व्यापक और गहरा था कि केंद्र सरकार को आखिरकार यह माँग माननी पड़ी। इस तरह, 1 अक्तूबर 1953 को आंध्र के रूप में एक नए राज्य का गठन हुआ, जो बाद में आंध्र प्रदेश बना।

आंध्र की स्थापना के बाद अन्य भाषायी समुदाय भी अपने-अपने अलग राज्यों की माँग करने लगे। फलस्वरूप, एक राज्य पुनर्गठन आयोग का गठन किया गया जिसने 1956 में अपनी रिपोर्ट सरकार को सौंप दी। आयोग ने सुझाव दिया कि असमिया, बंगला, उड़िया, तमिल, मलयालम, कन्नड़ और तेलुगू भाषियों के लिए अलग-अलग प्रांतों का गठन करने के उद्देश्य से जिलों और प्रांतों की सीमा को पुनः तय किया जाए। उत्तर भारत के विशाल हिंदी भाषी क्षेत्र को बाँट कर कई राज्य बना दिए गए। कुछ समय बाद, 1960 में बम्बई प्रांत को मराठी और गुजराती भाषी, दो अलग राज्यों में बाँट दिया गया। 1966 में पंजाब का विभाजन हुआ और हरियाणा को अलग राज्य के रूप में मान्यता दी गई। पंजाब में पंजाबी भाषियों (जिनमें से ज़्यादातर सिख थे) और हरियाणा में हरियाणवी या हिंदी बोलने वालों की बहुतायत थी।

भाषायी राज्यों का गठन

चित्र 5 (क)
14 अगस्त 1947 से पहले भारतीय प्रांत और रियासतें।

(गुलाबी)	रियासतें
(पीला)	ब्रिटिश भारत

2019-2020

भूतपूर्व रियासतें*

अन्य राज्य

* जब रियासतों के शासक भारत अथवा पाकिस्तान से जुड़ने के लिए मान गये या फिर हरा दिये गये तो उनकी रियासतें खत्म हो गईं। परन्तु 31 अक्तूबर 1956 तक कई ऐसी रियासतों को प्रशासनिक इकाइयों के रूप में बनाये रखा गया। इसीलिए 1947-48 से 31 अक्तूबर 1956 की कलावधि के लिए इन्हें भूतपूर्व रियासत कहा गया है।

***चित्र 5 (ख)** – 1 नवंबर 1956 से पहले भारतीय राज्य।*

गतिविधि

चित्र 5 (क), 5 (ख) और 5 (ग) को देखें। ध्यान दें कि चित्र 5 (ख) में रियासतें दिखाई नहीं दे रही हैं। उन राज्यों को पहचानें जिनका 1956 और बाद में गठन किया गया था। उन राज्यों की कौन सी भाषाएँ थीं?

***चित्र 5 (ग)** – 1975 में भारतीय राज्य।*

© NCERT not to be republished

चित्र 6 – महानदी के पानी को रोकने के लिए बनाया गया पुल।
स्वतंत्र भारत में पुल और बाँध विकास का प्रतीक बन गए थे।

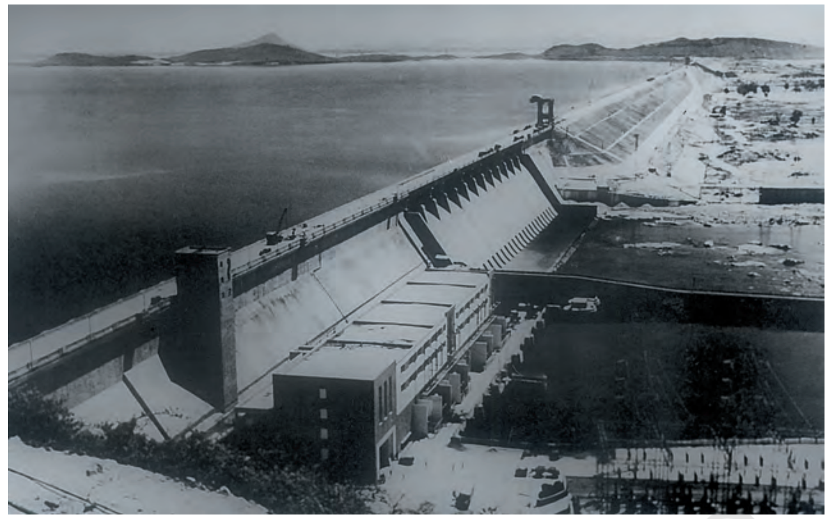

राज्य – सरकार से संबंधित (ध्यान दें कि 'राज्य' शब्द का यह अर्थ देश के विभिन्न राज्यों या प्रांतों से नहीं है)

विकास की योजनाएँ बनाना

भारत और भारतीयों को गरीबी से मुक्त कराने और आधुनिक तकनीकी एवं औद्योगिक आधार निर्मित करना नए भारत का एक बड़ा लक्ष्य था। 1950 में सरकार ने आर्थिक विकास के लिए नीतियाँ बनाने और उनको लागू करने के लिए एक 'योजना आयोग' का गठन किया। इस बारे में ज़्यादातर सहमति थी कि भारत "मिश्रित अर्थव्यवस्था" के रास्ते पर चलेगा। यहाँ **राज्य** और निजी क्षेत्र, दोनों ही उत्पादन बढ़ाने और रोज़गार पैदा करने में महत्त्वपूर्ण और परस्पर पूरक भूमिका अदा करेंगे। किस क्षेत्र की क्या भूमिका होगी – अर्थात कौन से उद्योग सरकार द्वारा और कौन से उद्योग बाजार द्वारा यानी निजी उद्योगपतियों द्वारा लगाए जाएँगे, विभिन्न क्षेत्रों और राज्यों के बीच किस तरह का संतुलन बनाया जायेगा इन सबको परिभाषित करना योजना आयोग का काम था।

चित्र 7 – गांधीसागर बाँध पर चल रहा काम।
मध्य प्रदेश स्थित चम्बल नदी पर बनाए गए चार बाँधों में से यह पहला था। इसका निर्माण 1960 में पूरा हुआ।

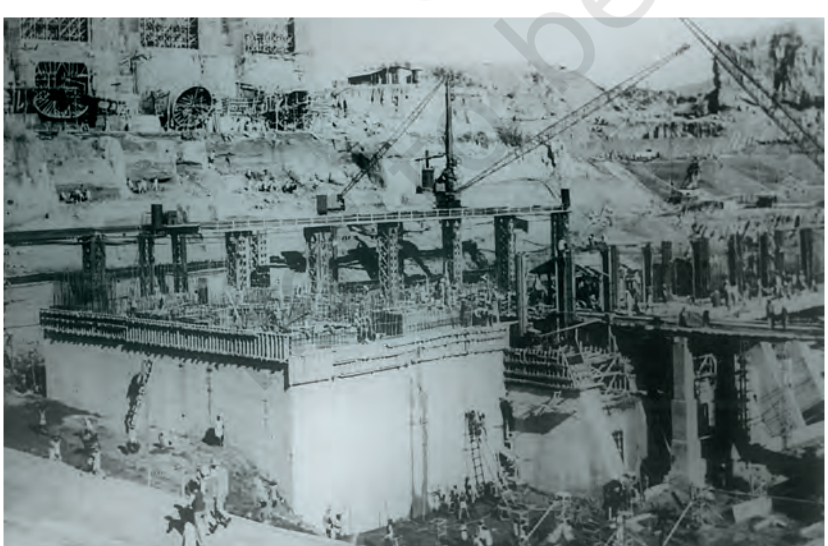

1956 में दूसरी पंचवर्षीय योजना तैयार की गई। इस योजना में इस्पात जैसे भारी उद्योगों और विशाल बाँध परियोजनाओं आदि पर सबसे ज़्यादा जोर दिया गया। ये काम सरकारी नियंत्रण के अंतर्गत रखे गए। भारी उद्योग पर यह ज़ोर और अर्थव्यवस्था की राज्य नियंत्रण की कोशिशें अगले कुछ दशकों तक आर्थिक नीति को प्रभावित करती रहीं। इस पद्धति के बहुत सारे समर्थक थे तो कुछ मुखर विरोधी भी थे। कुछ लोगों को लगता था कि इस प्रणाली में खेती पर पर्याप्त ज़ोर नहीं दिया जा रहा है।

2019-2020

स्रोत 2

पंचवर्षीय योजनाओं पर नेहरू के विचार

प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू योजना प्रक्रिया के भारी समर्थक थे। उन्होंने विभिन्न राज्यों के मुख्यमंत्रियों के नाम लिखे अपने पत्रों में नियोजन के आदर्शों और उद्देश्यों की व्याख्या की है। 22 दिसंबर 1952 के एक पत्र में उन्होंने लिखा था :

> ...पंचवर्षीय योजना के पीछे भारत की एकता और देश के विभिन्न जन-समूहों के विराट आपसी सहयोग की अवधारणा निहित है...। हमें यह बात हमेशा याद रखनी चाहिए कि इस प्रक्रिया में सिर्फ सरकारी तंत्र का ही महत्व नहीं होता बल्कि जनता के उत्साह और सहयोग का महत्व इससे भी ज़्यादा है। हमारे लोगों को एक विशाल उद्यम में साझेदारी का उत्साह, उन्हें अपने अगले उद्देश्य की ओर बढ़ते सहयात्री जैसा अहसास होना चाहिए। बेशक योजना बहुत सारे अर्थशास्त्रियों, सांख्यिकी विशेषज्ञों और ऐसे ही दूसरे लोगों की गणनाओं पर आधारित हो सकती है, और होगी। परंतु केवल आंकड़ों और संख्याओं से हालाँकि ये महत्त्वपूर्ण है, ये किसी योजना में जीवन पैदा नहीं करते। जीवन का यह उच्छ्वास तो कहीं और से आता है। अब यह हमारी ज़िम्मेदारी है कि ठंडे अक्षरों में लिखी योजना को एक ऐसा जीवंत, गतिशील उद्यम बना दें कि वह लोगों की कल्पनाओं को साकार कर सके।

चित्र 8 – भिलाई इस्पात संयंत्र में जवाहरलाल नेहरू।

भिलाई स्थित इस्पात कारखाने की स्थापना 1959 में तत्कालीन सोवियत संघ की सहायता से की गई थी। छत्तीसगढ़ के पिछड़े ग्रामीण इलाके में स्थित यह कारखाना आधुनिक भारत के विकास का एक महत्त्वपूर्ण प्रतीक बन गया था।

कुछ लोगों का कहना था कि प्राथमिक शिक्षा की उपेक्षा हो रही है। कुछ अन्य लोगों का मानना था कि आर्थिक नीतियों के कारण पर्यावरण पर पड़ रहे प्रभावों पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। महात्मा गांधी की अनुयायी मीरा बहन ने 1949 में लिखा था, "विज्ञान और मशीनरी के द्वारा उसे (मानवता को) कुछ समय तक भारी फायदा हो सकता है लेकिन आखिरकार तबाही ही मिलेगी। हमें कुदरत के संतुलन का अध्ययन करके उसके नियमों के हिसाब से अपनी ज़िंदगी चलानी चाहिए, तभी हम स्वस्थ और नैतिक रूप से सभ्य प्रजाति के रूप में जीवित रह पाएँगे।"

गतिविधि

क्या मीरा बहन की यह मान्यता सही थी कि विज्ञान और मशीनरी मानव सभ्यता के लिए समस्याएँ खड़ी कर देंगे। इस बात पर अपनी कक्षा में चर्चा कीजिए। इस चर्चा के लिए आप औद्योगिक प्रदूषण और जंगलों के विनाश से हमारी दुनिया पर पड़ रहे प्रभावों जैसे उदाहरणों के बारे में सोच सकते हैं।

2019-2020

एक स्वतंत्र विदेश नीति की चाह

चित्र 9 – संयुक्त राष्ट्र में जवाहरलाल नेहरू और कृष्णा मेनन।

कृष्णा मेनन ने 1952 से 1962 के बीच संयुक्त राष्ट्र में भारतीय प्रतिनिधि मंडलों का नेतृत्व किया और गुटनिरपेक्षता की नीति के पक्ष में आवाज़ उठाई।

जिस समय भारत को आज़ादी मिली तब तक दूसरे विश्व युद्ध की तबाही को कुछ ही समय हुआ था। 1945 में गठित की गई नई अंतर्राष्ट्रीय संस्था – संयुक्त राष्ट्र – अभी अपने शैशवकाल में थी। 1950 और 1960 के दशकों में शीत युद्ध का उदय हुआ, शक्तिशाली देशों के बीच प्रतिद्वंद्विता पैदा हुई और अमरीका व सोवियत संघ के बीच वैचारिक टकराव गहरे होते गए। फलस्वरूप दोनों देशों ने अपने-अपने समर्थक देशों को मिलाकर सैनिक गठबंधन बना लिए। यही समय था जब औपनिवेशिक साम्राज्य ध्वस्त हो रहे थे और बहुत सारे देश स्वतंत्रता प्राप्त कर रहे थे। प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू नवस्वाधीन भारत के विदेश मंत्री भी थे। उन्होंने इस संदर्भ में स्वतंत्र भारत की विदेश नीति की रूपरेखा तैयार की। गुटनिरपेक्ष आंदोलन इसी विदेश नीति का मूल आधार था।

मिस्र, यूगोस्लाविया, इंडोनेशिया, घाना और भारत के राजनेताओं के नेतृत्व में गुटनिरपेक्ष आंदोलन में दुनिया के देशों से आह्वान किया कि वे इन दोनों मुख्य सैनिक गठबंधनों में शामिल न हों। परंतु गठबंधनों से दूर रहने की इस नीति का मतलब "अलग-थलग" या "तटस्थ" रहना नहीं था। अलग-थलग रहने का मतलब था कि विभिन्न देश अंतर्राष्ट्रीय मामलों से दूर रहें जबकि भारत जैसे गुटनिरपेक्ष देश तो अमेरिकी और सोवियत गठबंधनों के बीच सुलह-सफाई में एक अहम भूमिका अदा कर रहे थे। इन देशों ने युद्ध को टालने के प्रयास किए और अकसर युद्ध के खिलाफ मानवतावादी और नैतिक रवैया अपनाया। परंतु विभिन्न कारणों से भारत सहित बहुत सारे गुटनिरपेक्ष देशों को युद्ध का सामना करना पड़ा।

1970 के दशक तक बहुत सारे देश गुटनिरपेक्ष आंदोलन के सदस्य बन चुके थे।

चित्र 10 – बांडुंग, इंडोनेशिया में एशिया और अफ्रीका के नेताओं की बैठक, 1955

इस प्रसिद्ध सम्मेलन में 29 से ज़्यादा नवस्वाधीन देशों के प्रतिनिधियों ने इस बात की चर्चा की थी कि अफ्रीका-एशिया के देश उपनिवेशवाद और पश्चिमी प्रभुत्व के विरुद्ध अपने प्रयास किस तरह जारी रख सकते हैं।

© NCERT not to be republished

राष्ट्र के साठ वर्षों के बाद

15 अगस्त 2007 को हमने एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में अपनी साठवीं वर्षगाँठ मनाई थी। इस दौरान हमारे देश का प्रदर्शन कैस रहा? संविधान में तय किए गए आदर्शों को हम किस हद तक साकार कर पाए?

भारत अभी भी एक है और लोकतांत्रिक राह पर चल रहा है। यह गर्व करने लायक उपलब्धि है। बहुत सारे विदेशी प्रेक्षकों का मानना था कि भारत एक देश के रूप में ज़्यादा समय तक टिक नहीं पाएगा। उन्हें लगता था कि भारत का प्रत्येक क्षेत्र या भाषायी समूह अपने अलग राष्ट्र की माँग करेगा और उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाएँगे। कुछ विशेषज्ञों को लगता था कि भारत सैनिक शासन के कब्ज़े में आ जाएगा। परंतु ये सारी आशंकाएँ निर्मूल साबित हुई हैं। आज़ादी से अब तक 13 आम चुनाव हो चुके हैं और राज्यों तथा स्थानीय निकायों के लिए सैकड़ों चुनाव हो चुके हैं। हमारे यहाँ स्वतंत्र प्रेस है और एक स्वतंत्र न्यायपालिका है। इसके अलावा, यहाँ के लोगों की भाषायी विविधता या धार्मिक विविधता भी राष्ट्रीय एकता की राह में रुकावट नहीं बन पाई है।

परंतु दूसरी ओर यह भी सच है कि आज भी हमारे देश में गहरे मतभेद बने हुए हैं। संवैधानिक गारंटियों के बावजूद अछूत समुदाय – या जिन्हें अब दलित कहा जाता है – आज भी हिंसा और भेदभाव से जूझ रहे हैं। ग्रामीण भारत के बहुत सारे भागों में अभी भी वे साझा जल स्रोतों, मंदिरों, मैदानों और अन्य सार्वजनिक स्थानों का इस्तेमाल नहीं कर सकते। संविधान में दिए गए धर्मनिरपेक्ष आदर्शों के बावजूद बहुत सारे राज्यों में विभिन्न धार्मिक समूहों के बीच कई बार टकराव हो चुके हैं। और सबसे परेशानी की बात यह है कि इस बीच अमीर और गरीब का फासला लगातार बढ़ता गया है। भारत के कुछ भागों और कुछ समूहों को आर्थिक विकास से भारी फायदा हुआ है। वे आलीशान घरों में रहते हैं, मँहगे रेस्टोरेंट्स में खाना खाते हैं, अपने बच्चों को मँहगे निजी स्कूलों में भेजते हैं और विदेशों में छुट्टियों पर बेहिसाब पैसा उड़ाते हैं। दूसरी ओर बहुत सारे लोग आज भी गरीबी की रेखा से नीचे हैं। शहरी झुग्गी बस्तियों या बंजर देहात में रहने वाले ऐसे बहुत सारे लोग अपने बच्चों को स्कूल भी नहीं भेज पाते।

चित्र 11 – *बम्बई स्थित धारावी दुनिया की सबसे बड़ी झुग्गी बस्तियों में से एक है।* इसके दूर वाले सिरे पर आप गगनचुंबी इमारतें देख सकते हैं।

हमारा संविधान कानून की नज़र में सबको बराबर मानता है लेकिन असली ज़िंदगी में कुछ भारतीय औरों के मुकाबले ज़्यादा बराबर हैं। स्वतंत्रता के समय तय की गई कसौटियों के हिसाब से देखें तो भारतीय गणतंत्र बहुत बड़ी सफलता का दावा नहीं कर सकता। लेकिन यह भी सच है कि वह विफल नहीं हुआ है।

अन्यत्र

श्रीलंका में क्या हुआ

1956 में, जिस समय भारत में भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किया जा रहा था, उसी समय श्रीलंका (तत्कालीन नाम सीलोन) की संसद ने एक कानून पारित करके सिंहला भाषा को देश की राजभाषा का दर्जा दे दिया। इस कानून के जरिए सिंहला भाषा को सभी सरकारी स्कूल-कॉलेजों, सरकारी परीक्षाओं और अदालतों की भाषा बना दिया गया। श्रीलंका के उत्तर में रहने वाले तमिलभाषी अल्पसंख्यकों ने इस नए कानून का विरोध किया। एक तमिल सांसद ने कहा कि "जब आप मुझसे मेरी भाषा छीन लेते हैं तो आप मेरा सब कुछ मुझसे छीन लेते हैं।" एक और नेता ने चेतावनी दी, "आप सीलोन को बाँटना चाहते हैं। निश्चिंत रहिए। मैं आश्वासन देता हूँ कि (आपको) एक विभाजित सीलोन ही मिलेगा।" सिंहला भाषी एक विपक्षी सदस्य ने कहा था कि अगर सरकार अपना रुख नहीं बदलती है और इस कानून पर अड़ी रहती है तो "इस छोटे से देश में से दो टूटे-फूटे रक्तरंजित देश भी पैदा हो सकते हैं।"

चि 12 – बंदूक लिए हुए तमिल उग्रवादी– श्रीलंका में गृहयुद्ध का प्रतीक।

पिछले कई दशकों से श्रीलंका में गृह युद्ध चल रहा है जो इसी कारण पैदा हुआ कि वहाँ के तमिलभाषी अल्पसंख्यकों पर सिंहला भाषा थोपी जा रही है। और एक अन्य दक्षिण एशियाई देश – पाकिस्तान – भी इसलिए दो टुकड़ों में बँट गया था क्योंकि पूर्वी पाकिस्तान के बंगला भाषी लोगों को लगता था कि पाकिस्तान में उनकी भाषा को दबाया जा रहा है। इसके विपरीत भारत एकीकृत राष्ट्र के रूप में कायम रहा है। कुछ हद तक इसलिए कि यहाँ बहुत सारी क्षेत्रीय भाषाओं को फलने-फूलने का मौका दिया गया। अगर हिंदी को उसी तरह दक्षिणी भारत पर थोप दिया जाता जिस तरह पूर्वी पाकिस्तान पर उर्दू या उत्तरी श्रीलंका पर सिंहला भाषा को थोप दिया गया था तो शायद भारत भी गृह युद्धों में उलझ कर बिखर जाता। जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल की आशंकाओं को निर्मूल साबित करते हुए भाषायी राज्यों ने भारत की एकता के लिए कभी खतरा पैदा नहीं किया बल्कि उन्होंने इस एकता को और गहराई दी है। इससे पता चलता है कि जब एक बार अपनी भाषा के दबने का भय खत्म हो जाता है तो विभिन्न भाषायी समूह एक विशाल राष्ट्र के अंग के रूप में सहज आगे बढ़ने लगते हैं।

© NCERT not to be republished

आइए कल्पना करें

आप एक आदिवासी तथा एक आरक्षण-विरोधी व्यक्ति की बहस सुन रहे हैं। कल्पना कीजिए कि दोनों व्यक्ति अपनी ओर से क्या दलील दे रहे होंगे? इस चर्चा को अभिनय करके दिखाइए।

फिर से याद करें

1. नवस्वाधीन भारत के सामने कौन सी तीन समस्याएँ थीं?
2. योजना आयोग की क्या भूमिका थी?
3. रिक्त स्थान भरें :

   (क) केंद्रीय सूची में ......, ... और ...... विषय रखे गए थे।

   (ख) समवर्ती सूची में ...... और ...... विषय रखे गए थे।

   (ग) वह आर्थिक योजना जिसमें सरकारी और निजी, दोनों क्षेत्रों को विकास में भूमिका दी गई थी, उसे ...... मॉडल कहा जाता था।

(घ) ...... की मृत्यु से इतना ज़बरदस्त आंदोलन पैदा हुआ कि सरकार को आंध्र भाषी राज्य के गठन की माँग को मानना पड़ा।

4. सही या गलत बताएँ :

(क) आज़ादी के समय ज़्यादातर भारतीय गाँवों में रहते थे।

(ख) संविधान सभा कांग्रेस पार्टी के सदस्यों से मिलकर बनी थी।

(ग) पहले राष्ट्रीय चुनावों में केवल पुरुषों को ही वोट डालने का अधिकार दिया गया था।

(घ) दूसरी पंचवर्षीय योजना में भारी उद्योगों के विकास पर जोर दिया गया था।

आइए विचार करें

5. "राजनीति में हमारे पास समानता होगी और सामाजिक व आर्थिक जीवन में हम असमानता की राह पर चलेंगे" कहने के पीछे डॉ. अंबेडकर का क्या आशय था?

6. स्वतंत्रता के बाद देश को भाषा के आधार पर राज्यों में बाँटने के प्रति हिचकिचाहट क्यों थी?

7. एक कारण बताइए कि आज़ादी के बाद भी भारत में अंग्रेज़ी क्यों जारी रही।

8. आज़ादी के बाद प्रारंभिक दशकों में भारत के आर्थिक विकास की कल्पना किस तरह की गई थी?

आइए करके देखें

9. मीरा बहन कौन थीं? उनके जीवन और आदर्शों के बारे में पता लगाएँ।

10. पाकिस्तान में भाषा के आधार पर हुए उन विवादों के बारे में और पता लगाएँ जिनकी वजह से बांगलादेश का जन्म हुआ। बांगलादेश को पाकिस्तान से आज़ादी कैसे मिली?

© NCERT not to be republished

टिप्पणी

© NCERT not to be republished